तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

लेखक : ©
विद्यावारिधि
डॉ० ज्योति प्रसाद जैन
ज्योति निकुञ्ज
चारबाग, लखनऊ-१

●

प्रथम आवृत्ति
१९७४ ई०
महावीर निर्वाण सं० २५००

●

प्रकाशक :
लाला प्रेमचन्द जैन
जैनावाच कपनी, दरियागंज
दिल्ली

●

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी, वाराणसी-५

●

सप्रेम भेंट
"प्रेमचन्द"

प्राक्कथन

डा० ज्योति प्रसाद जैन द्वारा लिखित 'तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग' जैनधर्म, दर्शन और इतिहास को समझने के लिए बहुत ही उत्तम पुस्तक है। मैंने इस पुस्तक को बड़ी रुचि से पढ़ा है। विद्वान् लेखक ने बहुत ही सरल भाषा में अति प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक परम्परा का विवेचन किया है। जैनधर्म बहुत ही पुराना धर्म है। इसकी परम्परा वैदिक काल तक जाती है। इसका दर्शन पक्ष और आचार पक्ष अनेक भारतीय धर्म साधनाओं को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है। परवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय भी इससे प्रभावित हुआ है। डा० ज्योति प्रसाद जैन ने इसके धार्मिक स्वरूप, दार्शनिक चिन्तन और इतिहास को बहुत अच्छी तरह से सरल भाषा में लिखा है जिससे साधारण पाठकों को भी इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी



प्रस्तावना

धर्मानुरागी डा० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित 'तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग' उनके अकथ परिश्रम तथा गहन अध्ययन का द्योतक है। श्री जैन के परिमार्जित अध्ययन ने ही जैन दर्शन जैसे विशाल सागर को इस लघुपुस्तिका-रूपी गागर मे प्रवेश दिया है। आपके विचार सारगर्भित और सामान्य पुरुष को भी समझने में सुलभ सिद्ध होंगे।

पुस्तक मे विभिन्न विद्वानो के विचार को बड़े ही सुन्दर ढंग से अनेकान्तवाद का परिवेष पहिनाया है। जोकि उनके क्रमबद्ध ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पुस्तक का प्रारम्भ क्रमशः धर्म, दर्शन, जैनधर्म की प्राचीनता इत्यादि शीर्षकों से करके जिनेन्द्र महावीर के कतिपय उपदेशो के साथ समापन किया है। आशा है कि विश्व समाज तथा उसकी भावी पीढ़ी उक्त लेखक के मौलिक विचारों से लाभान्वित होगी।

८-९-१९७४ — विद्यानन्द मुनि

आमुख

समस्त आत्मिक विकारों पर पूर्णतया विजय प्राप्त करने वाले महान् आध्यात्मिक विजेता 'जिन' या 'जिनेन्द्र' कहलाते हैं, और जन्म-मरण रूप दुःखपूर्ण संसार-सागर से पार करने वाले कल्याणकारी धर्मतीर्थ की स्थापना एवं प्रवर्त्तन करने के कारण वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। उनका मार्ग श्रमपूर्वक स्वपुरुषार्थ द्वारा आत्मशोधन का है, अतएव वे 'श्रमण' भी कहलाते हैं, और अंतर-बाह्य परिग्रह से विहीन होने के कारण 'निर्ग्रन्थ'। उन ऋषभादि—महावीर पर्यन्त चौबीस निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों या जिनदेवों द्वारा स्वयं अनुभूत, आचरित एवं 'सर्व सत्त्वानां हिताय, सर्व सत्त्वानां सुखाय' (संसार के समस्त प्राणियों के हित-सुख के लिए) उपदेशित धर्मव्यवस्था का नाम ही जैनधर्म है। उसके अनुयायी जैन या जैनी कहलाते हैं।

इसी धर्म-संस्कृति का पाठकों को सामान्य प्रावेशिक परिचय प्रदान करने के उद्देश्य से यह पुस्तिका लिखी गई है। आशा है कि इसके अवलोकन से पाठकों की इस सर्वकल्याणकारी धर्म के संबंध में जिज्ञासा जागृत होगी। अपनी जिज्ञासाओं को यदि वे लेखक को लिखेंगे तो उसे उनका समाधान करने में प्रसन्नता होगी। इस पुस्तिका के प्रणयन में प्रमुख प्रेरक धर्मोत्साही बन्धु श्री प्रेमचन्द्र जैन (जैनावाच कं०, दिल्ली) हैं और उन्हीं को उदार आर्थिक सहायता द्वारा इसके प्रकाशन का श्रेय है। वयोवृद्ध समाजसेवी

ला० पन्नालाल जी अग्रवाल, दिल्ली, के अथक आग्रह को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

आचार्यवर पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के स्नेह एवं कृपा के लिए किन शब्दों में कृतज्ञताज्ञापन करूँ। उन जैसे विचारक श्रेष्ठ साहित्यिक महारथी के आशीर्वादात्मक दो शब्दों ने इस पुस्तक को महत् गौरव प्रदान कर दिया है। अतएव इन महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ। अन्य भी जिन सज्जनों ने इसके लेखन, मुद्रण, प्रकाशन में योग दिया है उनका भी कृतज्ञ हूँ। पुस्तिका में यदि कोई त्रुटियाँ रह गई हों, तो उनका दोषी मैं हूँ, और उनके लिए विज्ञजनों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

—ज्योति प्रसाद जैन

निवेदन

डा० ज्योति प्रसाद जैन की लेखनी से प्रगट हुआ 'तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग' में जैनधर्म, विश्व धर्म, जन-जन के उदय का मार्ग है, ऐसा बड़े सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। विषय प्रगट करने की अपूर्व क्षमता की प्रशसा अकथनीय है। मैं डा० साहब का अत्यन्त आभारी हूँ।

श्रद्धेय मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज ने पुस्तक के लिए प्रस्तावना लिखी है। किन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन करूँ। उनका तो आशीर्वाद हमेशा ही मिलता रहता है।

वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की सज्जा व छपाई में विशेष योगदान दिया है।

श्रीमान् लाला पन्नालालजी 'किताब वाले' देहली निवासी की सतत् लग्नता व प्रयत्न से इस पुस्तक की उपलब्धि हुई जिसका आभार प्रगट करना मेरा कर्त्तव्य है।

जैनधर्म "आत्म स्वभाव" सम्बन्धी कुछ जानकारी प्राप्त कर भव्य जीव कल्याण-मार्ग पर प्रगति में अग्रसर हों ऐसी भावना सहित यह पुस्तक प्रस्तुत है।

७/३२ दरयागंज
देहली

प्रेमचंद जैन

अनुक्रम

●



श्रीमान् लाला रघुबीर सिंहजी जैन

(जैना वॉच कम्पनी, देहली)

की

पुण्य स्मृति में भेंट

महामन्त्रः

णमो अरहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोएसव्वसाहूणं

महात्म्यः

एसो पंच-णमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ।।

मंगलोत्तमशरणपाठः

चत्तारि मंगलं-अरहंतामंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।
चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धालोगुत्तमा,
साहूलोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहन्ते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि,
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।।



महावीर स्वामी

धर्म और दर्शन

संस्कृति

जैनधर्म और उसकी संस्कृति विशुद्ध भारतीय हैं। उसकी अनेक मान्यतायें मानवी सभ्यता के आदिम युग तक पहुँचती हैं, और वह भारतीय संस्कृति की उस प्राचीन श्रमणधारा का सर्व प्राचीन प्रतिनिधि है जो कि मूलतः अवैदिक ही नहीं प्राक्आर्य भी थी। आर्यों के भारत प्रवेश के उपरान्त उत्तर-पश्चिम प्रवेश में जब वेदाश्रित ब्राह्मण संस्कृति का उदय और द्रुत प्रसार हुआ तो पूर्व दिशा के मगध आदि देश अध्यात्म प्रधान प्राचीन श्रमण संस्कृति के प्रमुख केन्द्र बने। भारतीय संस्कृति की इसी मागधी अथवा श्रमण धारा का जैन संस्कृति चिर-काल से सफल प्रतिनिधित्व करती चली आ रही है। श्रमण एक विशिष्टतया जैन संज्ञा है जो जैन मुनियों के लिये व्यवहृत होती आई है। प्राचीन जैन साहित्य में स्वयं भगवान महावीर के लिये 'समणे भगवंमहावीरे' (श्रमण भगवान महावीर) प्रयोग बहुलता से मिलता है। और क्योंकि प्रायः सर्वत्र ही, विशेषकर भारतवर्ष में, संस्कृतियाँ धर्माश्रित ही होती आई हैं, जैन संस्कृति भी

इस नियम का अपवाद नहीं है। उसका मूलाधार जैनधर्म एवं दर्शन है।

जैन एक सर्वांग पूर्ण धर्म है। धर्मतत्त्व के सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि, तत्वज्ञान, दर्शन, अध्यात्म, आचारशास्त्र, पौराणिकता, देवी-देवता, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, संसार-मोक्ष, तीर्थ-देवालय, पूजा-अर्चना, पर्व उत्सव, इत्यादि सभी अंग उसमें पूर्व विकसित रूप में उपलब्ध होते हैं। जैनधर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म का सुन्दर समन्वय है। शान्ति, समत्व और चरम आत्मोत्कर्ष उसका लक्ष्य है।

तत्त्वज्ञान

तात्विक दृष्टि से जैनधर्म न तो न्याय और वैशेषिक दर्शनों की भाँति सृष्टि तत्व को स्वीकार करता है और न वेदान्तियों की भाँति परम ब्रह्म से उसका वास्तविक या अवास्तविक प्रादुर्भाव हुआ मानता है। उसकी दृष्टि में विश्व सत्ताभूत, वास्तविक और अनादि-निधन है। जिन तत्वों से वह निष्पन्न है उनकी पारस्परिक क्रियाओं प्रति-क्रियाओं के फलस्वरूप ही उसका अस्तित्व है और अनेक विभिन्नताओं, विविधताओं एवं विषमताओं के रूप में दृष्टिगोचर होने वाला विश्व-वैचित्र्य भी उन्हीं के कारण संभव है। मूलतः सत्ताद्वैत इसका आधार है। सत्ताभूत विश्व या यह चराचर जगत दो मूल

तत्वों से निर्मित है—एक जीव, दूसरा अजीव। जीव और अजीव दार्शनिक मान्यता मात्र नहीं है, वरन आत्मा और पुद्गल के रूप में वे दो वास्तविक पदार्थ, द्रव्य अथवा वस्तुएँ हैं, अनादि-निधन, शाश्वत वस्तुएँ है। वे अपने गुण स्वभावों का न कभी परित्याग कर सकते हैं, न उसमें से कोई भी पररूप हो सकता है। जीव अजीव का यह द्वैत सांख्यदर्शन की पुरुष प्रकृति जैसा लगता है किन्तु यह विशेष अन्तर है कि जैन सिद्धान्तानुसार जीव और पुद्गल का अनादि संबंध है। दोनों के इस अनादि बंधन के कारण ही संसार का अस्तित्व है, जिससे मुक्ति पाने के लिये धर्म की आवश्यकता है। यही कारण है कि सांख्य आदि के बिपरीत जैनधर्म मात्र दर्शन ही न रहकर एक ऐसा पूर्ण लोकधर्म बन सका जिसमें दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ ही साथ लोक-परलोक, नरक-स्वर्ग, देवी-देवता, भक्ति-कर्म आदि धर्म के समस्त अंग प्राप्त होते हैं। जैनधर्म का यह उत्कट वास्तविकता गहरी सूझ, एवं ज्ञेय तत्त्व विषयक विश्लेषणात्मक विवेचक बुद्धिका परिणाम हैं।

षड्द्रव्य

उपरोक्त अजीव तत्व के पाँच प्रकार है—पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव सहित जैन सिद्धा-

न्त के ये छः द्रव्य कहलाते हैं और इनके समूह का नाम ही लोक अथवा विश्व है। धर्म और अधर्म की द्रव्यों में गणना करना जैनधर्म की अपनी विशेषता है, यहाँ ये स्वतंत्र द्रव्य या पदार्थ हैं जिनका लक्षण क्रमशः 'गतिहेतुत्व,' और 'स्थिति हेतुत्व' हैं। ये दोनों ही द्रव्य एक-एक रूप हैं, असंख्य-प्रदेशी अस्तिकाय हैं और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। डा० हर्मनजेकोबी के अनुसार जैन-धर्म की इन दोनों द्रव्यों सम्बन्धी मान्यता उसकी अत्यन्त प्राचीनता की सूचक है। आकाश का लक्षण, अवगाहनाहेतुत्व' है—यह अन्य समस्त द्रव्यों को अवकाश या स्थान देता है। आकाश अनन्त है, उसके जितने अंश में छहों द्रव्य एकत्र मिलते हैं वह लोकाकाश कहलाता है, शेष समस्त भाग मात्र आकाश ही आकाश है और वह अलोकाकाश कहलाता है। अन्य कतिपय दर्शनों की भाँति जैनधर्म शब्द को आकाश का गुण नहीं मानता, वरन् उसे पुद्गल की एक पर्याय सूचित करता है। काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है, वह पृथक-पृथक असंख्य अणुओं के रूप में विद्यमान है और उसका लक्षण 'वर्तनाहेतुत्व' है। आकाश का सबसे छोटा अविभाज्य अंश 'प्रदेश', पुद्गल का 'अणु' और काल का 'समय' कहलाता है।

द्रव्य का लक्षण सत् है अर्थात् वह सत्ताभूत वास्त-

विक पदार्थ है। जड़-चेतन रूप इस दृश्यमान चराचर जगत का विलेषण करने से विश्व के मूल तत्वों के रूप में उपरोक्त छः द्रव्यों की उपलब्धि होती है। इनकी संख्या को घटाने बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं है, आवश्यकता भी नहीं हैं। इन छः द्रव्यों के समूह का नाम ही लोक या विश्व है। चूँकि उसके ये मूल तत्व स्वयं सत्‌रूप हैं वह विश्व भी सत्‌रूप और वास्तविक है, माया जाल या भ्रम नहीं है। ये द्रव्य अनादि-निधन हैं, अतः विश्व भी अनादि निधन है। न उसकी किसी ने सृष्टि की और न उसका कभी कोई विनाश कर सकता है उसकी व्यवस्था स्वयं उसके उपादान-भूत द्रव्यों के गुण स्वभावानुसार परिणमनों के कारण चलती है। अतः किसी कर्त्ता, हर्त्ता, पालनकर्त्ता, संचालक, व्यवस्थापक, नियामक या नियंत्रक की उसके लिए आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अपने गुण स्वभाव से युक्त स्वतंत्र है, वह कभी भी पर द्रव्यरूप नहीं हो सकता। गुण और पर्यायों का समूह ही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में जो उसके स्थायी धर्म, स्वभाव या विशेषतायें हैं, जो उसमें सदैव सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं, कभी उससे पृथक् नहीं होते, उसके गुण कहलाते हैं। इन गुणों में जो निरन्तर परिणमन-परिवर्तन होते रहते हैं, वे उसकी पर्यायें

कहलाती हैं। गुण एवं पर्याय ही द्रव्य के लक्षण हैं, वह उनका आधार है और ये आधेय। उनके द्वारा ही उसे चीन्हा जाता है। अपने गुणों को लिये हुये गुणी द्रव्य ध्रौव्यरूप, शाश्वत, स्थायी और नित्य है, किन्तु उन गुणों में निरन्तर परिणमन होते रहने के कारण—पूर्व पर्याय का विनाश और नवीन पर्याय की उत्पत्ति जो उसमें बराबर होती रहती है, उसकी जो निरन्तर अवस्थाएँ बदलती रहती हैं उनके कारण—वह अस्थायी या अनित्य कहलाता है। सत्रूप द्रव्य का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होता है, इसी कारण वह नित्यानित्य भी कहलाता है। बिना इस स्वरूप के उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। डॉ० ए० एन० उपाध्ये के शब्दों में "यह एक ऐसा सहज बुद्धिगम्य सिद्धान्त है जो प्रतिदिन अनुभव में आने वाले अति सामान्य दृष्टान्तों पर आधारित है। स्वर्ण-कंकण को गलाकर यदि उसकी अंगूठी बना लें, तो कंकण के व्यय के साथ अंगूठी का उत्पाद हुआ, किन्तु स्वर्ण दोनों अवस्थाओं में समान रूप से बना रहा। इस सीधी सी, सरलता से समझ में आने वाली बात को यदि वेदान्तियों और बौद्धों के एकान्तिक दार्शनिक आदर्शवाद (अद्वैतवाद) एवं क्षणिकवाद के प्रकाश में देखा जाय तो उसका महत्व भली प्रकार प्रकट हो जाता है। वेदां-

तियों के अनुसार मात्र स्वर्ण ही वास्तविक है, कंकण, मुद्रिका आदि नाम-भेद अवास्तविक हैं, माया और भ्रम हैं। बौद्धों के अनुसार दृष्टिगोचर होने वाली ये पर्यायें या अवस्थायें ही सब कुछ और वास्तविक हैं, अलक्ष्य स्वर्ण कुछ नहीं है, अर्थात् ध्रौव्य या स्थायी कुछ भी नहीं है, जो कुछ है क्षणिक है।

इन छः द्रव्यों में जीव द्रव्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस आत्म-तत्व के लक्षण चेतना और उपयोग हैं। वह ज्ञायक स्वभाव है, चैतन्य का पुञ्ज है, और चेतना की अभिव्यक्ति ही उपयोग है। इन्ही द्वारों से आत्मा पहिचानी जाती है। जीव या आत्मायें अनन्त हैं, प्रत्येक अपने आप में पूर्ण और सर्वथा स्वतंत्र है, अनादि-निधन है, सम्पूर्ण आत्मीक गुणों से सम्पन्न है तथा शरीराकार है। अनादि काल से पुद्गल के साथ बंधी होने के कारण वह संसरण करती आ रही है। जब धर्माश्रय से वह बंध-विमुक्त होकर अपने स्वरूप की उपलब्धि कर लेती है तो शुद्ध, बुद्ध, चेतन, अरूपी, अमूर्त, निरञ्जन, निराकार, निर्विकार, शाश्वत सुख के स्थान परमात्म-पद को प्राप्त कर लेती है। मुक्त अवस्था में भी उसकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है। सभी आत्मायें अपने मूल स्वभाव से समान हैं। जैनधर्म का यह सिद्धांत साम्यवाद की सर्वोत्कृष्ट

शिक्षा देता है ।

इसके विपरीत पुद्गल, जड़, अचेतन, रूपी पदार्थ है। वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि उसके गुण हैं, जिनके कारण अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें उसका बोध होता है। पुद्गल के अनेक प्रकार हैं और वह अपने विविध रूपों और पर्यायों में सम्पूर्ण लोक में ठसा-ठस भरा हुआ है। उसका अन्तिम अविभाज्य रूप परमाणु कहलाता है। यह पुद्गल ही समस्त भौतिक विज्ञान का आधार और विषय है। डा० जैकोबी के कथनानुसार जैनों के इस भौतिक परमाणुवाद से विदित होता है कि उन्होंने भौतिक द्रव्य संबंधी अत्यन्त आदिमयुगीन विचारों के आधार पर अपने सिद्धान्त को विकसित किया है।

कर्म सिद्धान्त

पुद्गल के अनेकविध भेदों में एक का नाम 'कार्माण स्कंध' है। जब जहाँ इन कार्माण वर्गणाओं को किसी जीवात्मा की रागद्वेष मोहादि विभाव परिणति का निमित्त प्राप्त होता है तो वह कर्मरूप हो जाती हैं और उस आत्मा के साथ बंध जाती हैं। यह कर्मबंध आत्मा की विभाव परिणति को बनाये रखते हैं और उसे उत्तरोत्तर नवीन कर्मबंधन में बँधने पर विवश करते हैं। व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक आत्मा का यह कर्मबंध का सिलसिला

अनादि काल से चला आ रहा है, इसी के परिणाम स्वरूप उसका संसार है। जीव की देहाश्रित जितनी भी अनेकविध संसारी अवस्थायें और परिणतियें हैं वे सब इस कर्मबंध का ही फल है। संसार दशा की अर्थसिद्धि करने के लिए जैनधर्म में कर्म सिद्धान्त का प्रायः वही स्थान है जो कि वेदान्त दर्शन में माया अथवा अविद्या का। जिस समय रागद्वेष के वशीभूत हुआ जीवात्मा कर्मबंध के लिए उपयुक्त अवस्था में होता है उसी समय सूक्ष्म कर्म-पुद्गल उसके सम्पर्क से कर्मरूप हो जाता है। यह कर्म सिद्धान्त जैनों की पुद्गल संबंधी मान्यता का ही एक अंग है और स्वतः एक गूढ़ एवं गंभीर विषय है। किसी भी अन्य भारतीय धर्म में जैनकर्म सिद्धान्त से मिलता जुलता सिद्धान्त दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रो० विन्डिश का कहना है कि "यद्यपि डा० ग्लेसेनप ने अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में यह कहा है कि कर्मसिद्धान्त सभी भारतीय धर्मों का एक मुख्य केन्द्रीय सिद्धान्त है, तथापि इसका जितना विपुल प्रयोग जैन दर्शन में हुआ है उतना किसी भी ब्राह्मण अथवा बौद्ध धर्म-ग्रन्थ में नहीं हुआ। इसी विषय में जैनकर्म ग्रन्थों का विशिष्ट महत्व है। और यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त की पारिभाषिक पदावली उन प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थों से ही ली गई है"। एक

अन्य विद्वान ने इसे ऐतिहासिक भाव का प्रतीक बताया है। इसमें सन्देह नहीं कि सूक्ष्मता के साथ विवेचित एवं विश्लेषित कर्म सिद्धान्त जैन धर्म की अपनी एक निराली विशेषता है। सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक कारण-कार्य सम्बन्ध उसका मूलाधार है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है, और प्रत्येक कारण का फल कोई न कोई कार्य।

जैनधर्म के अनुसार जन्म-मरण रूप संसार एक प्रत्यक्ष सत्य है और आवागमन अथवा पुनर्जन्म सिद्धान्त उसी का सीधा निष्कर्ष है। जैनधर्म का यह एक अन्यतम सिद्धान्त है। प्रत्येक जीव का यह जन्म-मरण रूप संसार अनादिकाल से चला आ रहा है। इसका अन्त निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्ति के साथ ही होता है। इस पुनर्जन्म और संसार अवस्था का कारण कर्मबन्ध है। जैन दार्शनिकों ने समस्त प्राणियों का—सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवजन्तु, एवं जलचर-नभचर-थलचर प्राणी ही नहीं वानस्पतिक आदि स्थावर जीवों से लेकर मनुष्य, देव, नारकी, सभी का, उनकी समस्त अवस्थाओं का और आत्मोत्थान की विभिन्न श्रेणियों का जो कि विभिन्न कर्मों के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं, गंभीर अध्ययन एवं विवेचन किया है।

सप्ततत्त्व

आत्मा और कर्मपुद्गल की उपरोक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप जैन दर्शन के सात तत्त्व निष्पन्न होते हैं। प्रथम तत्त्व जीव है, द्वितीय अजीव या कर्म पुद्गल। जब जीव की रागद्वेष परिणतिका निमित्त पाकर कर्म-पुद्गल जीव की ओर आकृष्ट होता है, उसकी ओर बहता है, तो उसे 'आस्रव' कहते हैं। मन-वचन-काय इन तीनों योगों में से किसी की कोई सी भी क्रिया हो उससे कर्मास्रव होता। कषाय विकारों के कारण जब वे पुद्गल कर्मरूप होकर आत्मा के साथ बँध जाते है, उसे 'बन्ध' तत्त्व कहते हैं। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से यह चार प्रकार का होता है। स्वपुरुषार्थ से योग-निरोध द्वारा आस्रव का रोकना संवर तत्त्व है। पूर्व बँधे हुए कर्मो को तपश्चरणादि द्वारा जीर्ण कर देना 'निर्जरा' तत्त्व है। और समस्त कर्मो को निश्शेष करके मुक्ति पा लेना 'मोक्ष' तत्त्व है। इन्हीं सप्त-तत्वों में पुण्य (शुभ कर्म) और पाप (अशुभकर्म) को मिलाने से ये नव पदार्थ भी कहलाते हैं।

मोक्ष या निर्वाण

जैनधर्म के अनुसार मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण प्रत्येक संसारी आत्मा का चरम लक्ष्य है। समस्त कर्मों

के सर्वथा अभाव में यह सिद्ध अवस्था प्रकट होती है। इस अवस्था में आत्मा की सम्पूर्ण स्वभाव शक्तियाँ पूर्णतया विकसित एवं प्रकट होती हैं। वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का धारी, सर्वथा स्वतंत्र, शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, निराकार, परम परमेश्वर हो जाता है। यह अवस्था धर्माचरण की परमलक्ष्य और प्रत्येक मुमुक्षु की परम-प्राप्तव्य है। इस अवस्था का आदि तो है किन्तु अन्त नहीं। संसार का नाश करके यह अवस्था प्राप्त होती है और इससे फिर च्युत होने या लौटने का कोई प्रश्न ही नहीं। जैन मान्यता का यह मोक्ष बौद्धों के 'दीप-निर्वाण-वत्' निर्वाण या वेदान्तियों के ब्रह्म में लय हो जाने की मान्यताओं से कोई सादृश्य नहीं रखता। सिद्धात्मा या मुक्तात्मा की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है।

देवत्व

देवत्व के संबंध में जैनदर्शन अनेकवादी है और उसका अनेकेश्वरवाद वास्तविक एवं यथार्थ है। कर्मबंध से मुक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्रत्येक आत्मा 'स्वयंभू' हो जाती है, वही ईश्वर है, देव है, आप्त है। सभी मुक्तात्मायें समान रूप से परमेश्वर हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा, हीन-श्रेष्ठ नहीं। वे सब ही आत्मोत्कर्ष की चरम

अवस्था में, अपने सर्वथा शुद्ध एवं पूर्ण स्वरूप में स्थित हैं। यह ईश्वरत्व या देवत्व ही धर्म-पथ पर आरूढ़ मुमुक्षु के लिए, मोक्षमार्ग के साधक के लिए, परम आदर्श, परम प्राप्तव्य है। ईश्वरत्व की ऐसी मान्यता साधक को कितना कुछ आशावादी नहीं बना देती, उसके हृदय को एक अपूर्व उत्साह से नहीं भर देती। प्रायः कहा जाता है कि धर्म का उद्देश्य मानव के अन्तर में निहित देवत्व की उपलब्धि करना है; आत्मा की उपरोक्त पूर्णावस्था के प्रतिपादन में जैनदर्शन धर्म तत्व के इसी सर्वोत्तम लक्ष्य की ओर निश्चित संकेत करता है। निरन्तर अथक धर्माचरण करते रहने और धर्म-पथ में उत्तरोत्तर प्रगति करते जाने से अन्ततः उक्त चरम लक्ष्य की प्राप्ति अवश्यंभावी एवं निश्चित है।

मोक्षमार्ग

यह मोक्षमार्ग सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप आध्यात्मिक रत्नत्रय की समन्वयात्मक पूर्णता में निहित है। एक आध्यात्मिक ध्यानप्रवण योगी की दृष्टि से, जो शुद्ध निश्चय नय से वस्तुतत्त्व पर दृष्टिपात करता है, रत्नत्रय की यह एकता स्वानुभूति या आत्म-दर्शन में निहित है। वह पूर्ण ध्यानावस्था में आत्मा द्वारा, आत्मा में ही, आत्मा का अनुभवन, आत्मज्ञान, आत्म-

रमण तथा तज्जन्य लोकोत्तर अत्मीक रसास्वादन पर ही पूर्ण बल देता है। किन्तु व्यवहार दृष्टि से पूर्वोक्त सात तत्वों का यथार्थ एवं समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रत्नत्रय है। प्रारंभिक अवस्था में और अधिक स्थूल दृष्टि से यथार्थ देव, गुरू और शास्त्र में आस्था, उनका ज्ञान और उनके बताये मार्ग का अनुसरण रत्नत्रय रूप धर्ममार्ग है।

धर्माचरण

मोक्षमार्ग के साधकों की प्रधानतः दो श्रेणियाँ हैं—एक साधु और दूसरे श्रावक। जैन आचार शास्त्रों में दोनों ही वर्गों के लिए धर्माचरण के नियमों का विस्तृत विवेचन है। जैनधर्म के आचारशास्त्र की कुंजी अहिंसा है। समस्त प्राणियों की अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—ये पाँच व्रत हैं, जो साधुओं के लिए पूर्णतया पालन किये जाने के कारण महाव्रत और गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं द्वारा आंशिक रूप में पालन किये जाने के कारण अणुव्रत कहलाते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य दशविध धर्म हैं, जिनका प्रत्येक मुमुक्षु स्वशक्त्यानुसार पालन करता है। मद्य-मांस-मधु आदि हिंसा जन्य, नशीले तथा अहितकर अभक्ष्यों का सेवन, परस्त्री और वेश्या रमण, जुआ, शिकार आदि कुव्यसनों का त्याग प्रारम्भिक

अवस्था में ही हो जाता है। रात्रि-भोजन आदि का त्याग करके खान-पान की शुद्धता एवं सात्विकता धर्माचरण के लिये उपयुक्त सात्त्विक विचारों को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक है। प्राणी मात्र से मैत्री, गुणीजनों में अनुराग, दीन दुःखियों के प्रति करुणाभाव और दुर्जनों के प्रति मध्यस्थ भाव—यह प्रवृत्ति प्रत्येक साधक में सामान्यतः पाई जानी चाहिये। किसी प्रकार के मद-मात्सर्य, ईर्ष्या-द्वेष, भय, ग्लानि आदि को प्रश्रय देना उसके लिए अहितकर है। समस्त चराचर जगत् के प्रति वीतराग भाव का पोषण करते रहना ही उसका सतत प्रयत्न होता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान प्रत्येक श्रावक के दैनिक षट्कर्म है। जैनों की इस आहार, औषध, विद्या एवं अभयरूप विधेयात्मक चतुर्विध दान प्रणाली का देश की नैतिकता एवं सामाजिक जीवन पर सदैव प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा है और उसके फलस्वरूप अनेक लोकोपकारी संस्थाओं एवं प्रवृत्तियों का उदय हुआ है तथा पारस्परिक प्रेम और सेवा-भाव को प्रोत्साहन मिला है।

पंच परमेष्ठी

जैन धर्म के आराध्य पंच परमेष्ठी हैं—संसार से मुक्त सिद्ध आत्मायें, इसी जीवन में इसी मानव शरीरसे

अपनी सतत साधना द्वारा आत्मा के चरमोत्थान को प्राप्त होने वाले अर्हन्तकेवलि, और उनका पदानुसरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय एवं साधु भेदधारी निर्ग्रन्थ तपस्वी, पंच परमेष्ठी कहलाते हैं। इनकी ही पूजा, उपासना, गुणानुवाद, भक्ति, सेवा करना एवं पदानुसरण करना जैनी आराधना है। सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी अर्हन्त देव ही परम आप्त, मोक्षमार्गके सत्यद्रष्टा, अनुसर्ता एवं प्रचारक हैं। लोककल्याण की भावना से धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले जैन तीर्थंकर इसी कोटि में आते हैं। इन अर्हन्तों के सच्चे अनुयायी, ज्ञान-ध्यान-तपलीन, निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही जैन मुनि मोक्षमार्ग के यथार्थ गुरु हैं। उक्त अर्हन्तों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त तथा उसके आधार पर उक्त गुरुओं द्वारा रचित पूर्वापर अविरोधी, प्रामाणिक एवं कल्याणकारी धर्मशास्त्र ही सद्-शास्त्र हैं। ये ऐसे देव-गुरु-शास्त्र ही जैनधर्म में मोक्षमार्ग के पथिक के लिए उपासनीय एवं मननीय हैं—ये तीनों ही धार्मिक प्रेरणा के सच्चे उद्भावक हैं।

धर्म का प्रयोजन

अस्तु, जहाँ तक जैन धर्म के उपदेश का प्रश्न है, वह अत्यन्त व्यावहारिक, विवेकपूर्ण, सार्वकालीन एवं सार्वभौमिक है। संसार के सभी प्राणी दुःखग्रस्त हैं। वे सभी



ममाग-दर्शन (मधु-बिन्दु



पत्रलेश्या-दर्शन

दु:ख से निवृत्ति एवं सुख की प्राप्ति चाहते हैं, एतदर्थ प्रयत्नशील रहते हैं। भ्रमवश वे इच्छाओं की पूर्ति में सुख खोजते हैं, किन्तु मनुष्य का भ्रम शीघ्र ही दूर हो जाता है जब कि वह देखता है कि प्रथम तो कोई भी इच्छा पूर्णतया तृप्त नहीं होती, दूसरे उसकी तृप्ति की चेष्टा में अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। स्वयं इच्छापूर्ति होते समय भी आकुलता बनी रहती है, और इच्छा पूर्ति के साथ ही साथ उससे तथा उसके साधनों से एक प्रकार की अरुचि हो जाती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि इच्छा की पूर्ति हो ही जाय। यदि एक इच्छा की पूर्ति हो भी जाती है तो उसके स्थान पर अनेक नवीन इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं। मानवी इच्छायें स्वभावत: परिगुणित हो जाया करती है। अत: इच्छातृप्ति सुख का उपाय नहीं है। वास्तविक और सच्चा सुख तो निराकुल, निराबाध, विशुद्ध एवं शाश्वत ही होना चाहिये, और उसका उपाय इच्छाओं की पूर्ति नही, वरन् आत्मसंयम और इन्द्रिय-जय और इच्छाओं का निरोध है। वह सच्चा सुख पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतीक मोक्ष अवस्था में ही संभव है। और उक्त मोक्ष का मार्ग वस्तुस्वरूप के समीचीन श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप, आत्मीक रत्नत्रय की समन्वयात्मक साधना, पूर्णता एवं सिद्धि में निहित है।

प्रमुख विशेषताएं

जैन तत्त्वज्ञान यथार्थता अर्थात् वास्तविकतावादी है। वह विश्व के समस्त इन्द्रियगोचर अथवा अगोचर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा उनका अत्यन्त विशद एवं वैज्ञानिक विश्लेषण और निरूपण करता है। जैन कर्मसिद्धान्त नियतिवाद का निषेध करता है। वह भाग्य, दैव अथवा ईश्वर के आसरे हाथ पर हाथ रखकर बैठ रहने की निंदा करता है। प्रत्युत इसके, वह पुरुषार्थ एवं स्वनिर्भरता के महत्त्व को प्रदर्शित करता है और स्फूर्तिदायक आत्मविश्वास, इच्छा शक्ति एवं मनोबल की पुष्टि करता है। अत्यधिक विकसित जैन-न्याय से परिपुष्ट जैनदर्शन उपरोक्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तर्कपूर्ण अकाट्यशैली में प्रतिपादन करता है। जैन न्याय-दर्शन भारतीय न्यायशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसने जैन सिद्धान्त को मात्र आज्ञाप्रधान होने के स्थान में सर्वथा परीक्षा-प्रधान एवं बुद्धिगम्य बना दिया है। जैन अध्यात्म रहस्यवादात्मक आदर्शवाद पर आधारित है। उसमें आत्मतत्त्व की उपादेयता एवं स्वात्मानुभूति के लोकोत्तरीय परमानन्द का अत्यन्त सरस एवं आकर्षक व्याख्यान है। उक्त अलौकिक ब्रह्मानन्द का रसपान करने के लिए वह मुमुक्षु जनों को सहज उत्प्रेरणा प्रदान करता है। इन्द्रिय

एवं प्राणिसंयम पर आधारित अहिंसा प्रधान जैनाचार व्यक्ति एवं समाज दोनों के ही सर्वाधिक कल्याण का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। वह एक अत्युच्च सुविकसित मानव संस्कृति का प्रतीक एवं आधार है। व्यक्ति के लिए वह विवेकपूर्ण दृष्टिकोण, अहिंसात्मक आचार विचार, आत्म-विश्वास एवं विचार स्वातन्त्र्य, शरीर साधन एवं आत्म-संयम पर बल देता है, और उसे धर्माचरण में यथाशक्ति निरन्तर उद्योगी बने रहने का उपदेश देता है। व्यक्ति का अन्तर्मुखी एवं व्यवस्थित जीवन ही समष्टि के कल्याण और सामूहिक शान्ति का अमोघ उपाय है। कृत्रिम उपायों और स्वार्थ प्रसूत भावनाओं से चिरशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। अहिंसा और अपरिग्रह ही विश्वशान्ति के जनक हैं। यह धर्म वर्ग विशेष का न होकर प्राणिमात्र का समान भाव से परम धर्म है। आत्मा सत्य है, उसी में सौन्दर्य है और वह सौन्दर्य ही शिव का उद्‌बोधक है। अतः उस सत्यं-शिवं-सुन्दरं रूप आत्मतत्त्व की उपलब्धि अनुभूति या दर्शन में ही व्यक्ति एवं समष्टि का कल्याण निहित है। अर्हन्तादि जिन महान् आत्माओं ने इस प्रयास में सफल होकर परमेष्ठिपद प्राप्त कर लिया है उनकी उक्त आदर्श अवस्था को स्वयं प्राप्त करने के लिए ही उन आदर्श पुरुषों की पूजा, उपासना, गुणानुवाद, ध्यानादिक

की व्यवस्था जैन क्रियाकांड एवं धार्मिक अनुष्ठानों में की गयी है। आत्मशोधन के अर्थ स्वाध्याय, सामायिक, दान, व्रत, तप, उपवासादि को यम-नियम रूप से करने का विधान है। जैन संस्कृति का साध्य मोक्ष या मुक्ति होने के कारण उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ भी निवृत्तिमूलक ही होती हैं। यही कारण है कि निवृत्ति प्रधान जैन धर्म के साहित्य में और उसकी मूर्ति, शिल्प आदि कलाओं में भी मुख्यतया शान्तरस ही प्रवाहित हुआ है।

साम्यवाद

संसार में जितने प्राणी हैं उन सबकी अपनी स्वतन्त्र आत्मिक सत्ता है। आत्म विकास की किसी भी अवस्था में वे क्यों न हों उन सबके आत्मीक गुण एवं शक्तियाँ सर्वथा समान हैं। उन शक्तियों को व्यक्त करने तथा पूर्णतया प्राप्त करने में भी सभी जीव समान रूप से समर्थ हैं। वे सभी समान रूप से दुखों से त्राण पाने और सुख लाभ करने के इच्छुक हैं। अतः प्राणी प्राणी में भेद कैसा, फिर मनुष्यों में, जो कि सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गर्व करते हैं, नाना प्रकार के मनमाने एवं कल्पित भेदभाव उपहासास्पद ही हैं। वास्तविक साम्यवाद का ऐसा उत्कृष्ट सिद्धान्त परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, भय, मद, मात्सर्य, शोषण एवं विनाशकारी युद्धों पर आधारित

आधुनिक भौतिक सभ्यता के समस्त रोगों की अमोघ औषधि है। अपने समान ही दूसरों को समझो, स्वयं जीयो और दूसरों को जीने दो, जैसा अपने लिये चाहते हो वैसा ही दूसरों के साथ व्यवहार करो, इत्यादि नीति-वाक्य उक्त सिद्धान्त के ही निष्कर्ष हैं। आत्मौपम्य का यह सरल सिद्धान्त सभी प्राणियों को समदृष्टि से देखता है, उनमें परस्पर एक अटूट नाता स्थापित करता है। मनुष्यकृत समस्त भेदभावों से यथा वर्ण, जाति, देश, वर्ग, लिंग, आयु, आर्थिक या सामाजिक स्थिति आदि से ऊपर उठकर मनुष्यमात्र में अद्भुत समत्व स्थापित कर देता है।

कर्मवाद

जैन कर्मवाद का सार है कि मनुष्य स्वयं अपने विचारों एवं कार्यों से कर्म-बन्धन में पडकर नाना प्रकार के दुख भोगता है। कर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता वह स्वय ही है। ईश्वर या अन्य कोई शक्ति पूर्वोपार्जित कर्मफल भोग में हस्तक्षेप नहीं कर सकती, किन्तु व्यक्ति यदि स्वयं ही चाहे तो स्वपुरुषार्थ द्वारा उक्त कर्म-बंधन से मुक्त भी हो सकता है। अतः व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता, नियंता और भोक्ता है। वह अपने भविष्य की गति को मोड़ने में भी समर्थ है। वह अपने भाग्य को स्वयं ही बना भी सकता है और

बिगाड़ भी सकता है। अपने अच्छे या बुरे, समस्त कार्यों के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है। इससे अधिक स्वस्थ आशावादिता, जो भाग्य के भरोसे निष्क्रिय होकर बैठ रहने की अनुमति नहीं देती, और क्या हो सकती है?

स्याद्वाद

जैन दर्शन की एक अद्वितीय विशेषता उसका स्याद्वाद सिद्धान्त है। जैन अनेकान्त अथवा स्याद्वाद पदार्थों पर सब ही संभव दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करता है और दूसरों के विचारों का आदर करना तथा उनके प्रति सहिष्णुता का भाव रखना सिखाता है। कैसा भी विरोधी हो, उसके विचारों के साथ भी वह शान्ति पूर्वक समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सभी के मत में कुछ न कुछ सत्य निहित है, यदि उपयुक्त दृष्टि-कोण से उसे देखा जाय। विवाद की जड़ तो यह हठधर्मी है कि मैं ही सर्वथा ठीक हूँ, अन्य सब मिथ्या है। यह प्रवृत्ति ही एकान्त है, और अनेकान्त उसका निरसन करता है। ऐसी उत्कृष्ट सहिष्णुता एवं विवेक-पूर्ण प्रवृत्ति ही विश्व में शान्ति, मैत्री, सहयोग एवं समीकरण स्थापित करने में समर्थ हो सकती है। इतिहास साक्षी है कि जैन धर्मानुयायियों ने, जिनमें बड़े-बड़े शक्तिशाली सम्राट् एवं नरेश भी हुए हैं और बहुभाग जन-

साधारण भी रहे हैं, कभी भी किसी अन्य धर्म पर अत्याचार नहीं किया, यद्यपि उसे स्वयं धर्मान्ध विरोधियों के नृशंस अत्याचारों का कई बार शिकार होना पड़ा। वस्तुतः शान्ति-प्रियता एवं सहिष्णुता जैनधर्म की महान विशेषतायें रही हैं और इनका मुख्य कारण सप्तभङ्गी न्यायाश्रित अनेकान्तात्मक स्याद्वाद है। प्रो० चक्रवर्ती के कथनानुसार 'स्याद्वाद सिद्धान्त चार्वाकों के थोथे यथार्थवाद और नैयायिकों के उपहासास्पद आदर्शवाद, दोनों से ही बचकर चला है'। प्रो० ध्रुव के शब्दों में 'स्याद्वाद कोई काल्पनिक सिद्धान्त मात्र नहीं है जिसका प्रणयन किसी तात्त्विक समस्या का हल करने के लिए किया गया हो। किन्तु उसका संबंध तो मनुष्य के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जीवन से है। स्याद्वाद में ही विरोधी स्वरों का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है कि जिससे एक पूर्ण समन्वित स्वरलहरी गूंज उठती है।' और डा० उपाध्ये का कथन है कि 'स्याद्वाद का लक्ष्य आधुनिक दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र के सर्वथा अनुरूप है। स्याद्वाद का लक्ष्य वैयक्तिक दृष्टिकोणों का एकीकरण, समीकरण, समन्वय एवं संश्लेषण करके उन्हें एक व्यावहारिक पूर्णता प्रदान करना है। यह दार्शनिक को एक सार्वभौमिक दृष्टि प्रदान करता है और उसे यह निश्चय करा देता है कि सत्य के ऊपर

अपनी अपनी परिधि में सीमित भिन्न-भिन्न नामधारी मत-मतान्तरों में से किसी का भी एकाधिपत्य नहीं है। साथ ही धर्ममुमुक्षु को यह एक ऐसी बौद्धिक सहिष्णुता प्रदान करता है जो उस अहिंसा सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है जिसकी सहस्रों वर्षों से जैनधर्म निरन्तर पुष्टि करता चला आ रहा है।'—वस्तुतः, जैन अनेकान्त-स्याद्वाद मनुष्य-मनुष्य के बीच सहिष्णुता, सद्भाव और सहअस्तित्व अथवा भावनात्मक एकत्व का परम पोषक है।

अहिंसावाद

अहिंसावाद जैनधर्म की सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वप्रधान विशेषता तथा उसका सर्वव्यापक सिद्धान्त है। मानव सभ्यता के इतिहास एवं विकास पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ एवं अदया का त्याग तथा समवेदना, सहृदयता, सहयोग, मैत्री, कारुण्य आदि अहिंसा के विभिन्न अंग ही मानवी सभ्यता के मूलाधार हैं और उसकी प्रेरक शक्तियाँ हैं। मनुष्य का चरम विकास हिंसक प्रवृत्ति के सर्वथा परित्याग और अहिंसक प्रवृत्ति की पूर्ण उपलब्धि में ही निहित है। जिस समय मनुष्य इस महान् वैज्ञानिक तथ्य का अनुभव कर लेता है कि प्राणी मात्र को जीवन प्रिय है, सब सुख चाहते हैं और दुख से घबराते हैं, बध-बंधनादि सबको बुरे लगते हैं, मृत्यु से सभी डरते हैं और

जीवित रहने की सभी इच्छा रखते हैं, अतः किसी को भी मारना या शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट पहुँचाना अनुचित ही नहीं, भयंकर पाप है, उसी समय से उस व्यक्ति का आत्मिक विकास प्रारंभ हो जाता है, और वह सभ्यकोटि में गिना जाता है। दूसरों की हित कामना में रत रहने वाली ऐसी अहिंसक आत्मायें ही धर्मात्मा कहलाती हैं।

यही कारण है कि विश्व में जब-जब और जहाँ-जहाँ जो भी धर्म प्रचलित हुए उन सब ही के प्रवर्तकों ने अपने उपदेशों में अहिंसा और विश्व मैत्री के सिद्धान्त पर यथा संभव बल दिया तथा स्वार्थ और क्रूरता को हेय बताया। हिन्दुओं के वेद-पुराण, दर्शन और धर्मशास्त्र; बौद्धों के त्रिपिटक, चीनी कनफुशस और लाओत्से के उपदेश, ईरानी ज़रथुश्त की जिन्दावेस्ता, यूनानी पाइथेगोरस के ग्रन्थ, यहूदी मूसा और ईसा की बाइबिल और इंजील, अरब के हज़रत मुहम्मद की कुरान शरीफ, कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि मध्यकालीन सन्तों की बानियाँ, इत्यादि, सभी में दूसरों के प्रति दया का बर्ताव करने का, किसी को न सताने का, स्वार्थ का त्याग करके दूसरों की सेवा एवं उपकार करने का स्पष्ट उपदेश है। आज के युग में महात्मा गाँधी ने समाज सुधार एवं राष्ट्रोद्धार के लिए

इसी अहिंसा सिद्धान्त का राजनीति में सफल प्रयोग कर दिखाया। उनका कहना था कि 'हिंसा मृत्यु का नियम है, अहिंसा जीवन का। हिंसा विघातक है, अहिंसा विधायक, हिंसा पशुबल है और अहिंसा मनुष्यबल तथा हिंसा आसुरी सम्पत्ति है तो अहिंसा दैवी विभूति है।'

तथापि उपरोक्त अधिकांश धर्मों के अनुयायी अपने व्यक्तिगत जीवन व्यवहार में ही नहीं वरन् धर्म के नाम पर और धर्माज्ञा कहकर भी नित्य नाना प्रकार की स्थूल हिंसा में रत रहते आये हैं और अहिंसा के सिद्धान्त का उन्मुक्त उपहास भी बहुधा करते रहे हैं। ऐसा प्रत्यक्ष विपर्यय क्यों ? इसका मात्र एक ही उत्तर हो सकता है कि, 'यद्यपि अहिंसा क्रम को सभी ने श्रेष्ठ मत माना सही पर, वास्तविक उसके विधानों को कभी जाना नहीं।'

जैनी अहिंसा

वस्तुतः, किसी भी पाश्चात्य अथवा पौर्वात्य मत में अहिंसा सिद्धान्त का इतना विशद, वैज्ञानिक एवं सर्वांग विवेचन नहीं हुआ, न उसे इतना जीवन-व्यापी एवं सार्व सिद्धान्त घोषित किया गया जितना कि जैनधर्म में। अहिंसा जैनधर्म की कुंजी है। 'क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय भावों अथवा प्रमाद या असावधानी के कारण मन-वचन-काय की किसी भी क्रिया के द्वारा अपने या

दूसरे के द्रव्य अथवा भाव प्राणों का घात करने (शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाने आदि) को हिंसा कहा गया है। ऐसा न करना अहिंसा है।' एक अन्य जैनाचार्य के शब्दों में 'निश्चय से कषाय भावों का अभाव ही अहिंसा है। और उनका सद्भाव ही हिंसा है, संक्षेप में यही जिनागम का रहस्य है।'

निरवद्य और सावद्य के भेद से हिंसा दो प्रकार की होती है। एक निर्ग्रन्थ अनागार जैन मुनि की क्रियायें निरवद्य होती हैं। वह अशक्य-परिहार कोटि की हिंसा को छोड़कर पूर्णतया अहिंसक होता है। सागार गृहस्थ की क्रियायें सावद्य होती हैं। उसके लिए आरंभी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसायें अशक्य-परिहार हैं, किन्तु संकल्पी हिंसा शक्य-परिहार है, उसी का वह सर्वथा त्यागी होता है। जानबूझकर, अपने स्वार्थ, आनन्द या विनोद के लिए अथवा असावधानता के कारण अपनी किसी चेष्टा से या वचनों से किसी भी दूसरे प्राणी के प्राणों का घात करना, उसे शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाना, अथवा मन में उसका अहित चिन्तन करना भी, या ये कार्य किसी अन्य से करवाना अथवा अन्य द्वारा किये जाने पर उनका अनुमोदन करना संकल्पी हिंसा है। मांसाहार, मद्यपान, शिकार खेलना, दूसरे प्राणियों के घात से प्राप्त वस्तुओं का उप-

योग करना, वैर-विरोध, वैमनस्य, रक्तपात, शोषण आदि सर्व प्रवृत्तियाँ संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत हैं। इन सबसे बचकर अपने जीवन-व्यापार एवं व्यवहार को संयत, शिष्ट, सात्त्विक, तथा दया एवं मैत्रीपूर्ण बनाना ही मनुष्य का धर्म है। सर्व प्रकार यत्नाचार पूर्वक बर्तते हुए और उद्देश्य एवं आशय पवित्र रहते हुए फिर यदि किसी की हिंसा अपने से हो भी जाती है तो वह अपरिहार्य है। इसी प्रकार जीवनयापन एवं जीविकोपार्जन के निमित्त की जाने वाली क्रियाओं में सावधानीपूर्वक एवं न्यायत: बर्तने पर भी जो हिंसा होती है वह आरंभी और उद्योगी कहलाती है, और क्षम्य है। अपने प्राण, धन, कुटुम्ब, समाज, देश, धर्म आदि की रक्षा करने में आततायी, अत्याचारी या आक्रमणकारी की जो हिंसा की जाती है वह विरोधी हिंसा है और वह भी क्षम्य है। हाँ, यदि विरोधी अपने से निर्बल हो तो पराजित करके भी क्षमा कर देना ही उचित है। जैनाचार्यों के कथनानुसार क्षमा तो वीरों का आभूषण है। कायर और डरपोक अपने विरोधी को क्षमा नहीं कर सकते, किन्तु जो सच्चे वीर हैं वे ऐसी परिस्थिति में क्षमाप्रदान द्वारा ही विरोधी को सच्चे अर्थों में पराजित करते हैं। जैनी अहिंसा के वास्तविक स्वरूप को न समझने तथा जैन इतिहास और साहित्य से

अनभिज्ञ होने के कारण प्रायः कितने ही व्यक्ति जैनी अहिंसा को कायरता एवं डरपोकपन का कारण बता दिया करते हैं। किन्तु वे नहीं जानते कि जैन धर्म की दृष्टि में जो कर्मशूर हैं वे ही धर्मशूर हो सकते हैं। एक सच्चा जैनी सर्वथा निर्भय होता है, सम्यग्दृष्टि को सात प्रकार के भय नहीं सताते। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कथन किया है कि 'विपत्ति आने पर उसे दूर करने के लिए धर्मात्मा व्यक्ति सद्यः तत्पर रहते हैं। जब तक तलवार, मन्त्र-बल और धन, किसी प्रकार की भी सामर्थ्य स्वयं में है, वे अपने पर या दूसरों पर आई विपत्ति अथवा बाधा को कदापि सहन नहीं कर सकते।' राजनीति के प्रसिद्ध जैन-पंडित सोमदेवाचार्य के शब्दों में 'अपने कर्तव्य के पालन करने में व्यक्ति जो हिंसा करता है वह क्षन्तव्य है। और यह कि, क्षत्रिय वीर उन्हीं पर शस्त्र उठाते हैं जो रणांगण में युद्ध करने को उनके सन्मुख हों, अथवा जो उनके देश के शत्रु हों, कंटक हों, उसकी उन्नति में बाधक हों। वे दीन हीन एवं साधु-आशय व्यक्तियों पर हाथ नहीं उठाते।' भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में जैन शूर वीरों ने सदैव स्वदेश, स्वधर्म और स्वजाति की रक्षा में अद्भुत शौर्य का परिचय दिया है, जो कि उपरोक्त जैनी-नीति का ज्वलन्त दृष्टान्त है। अस्तु, शुभचन्द्राचार्य के

शब्दों में 'सच्ची अहिंसा तो प्राणी मात्र के लिए माता के समान हितकारिणी, भार्या के समान प्रमोददायिनी और सरस्वती के समान शिक्षा-दात्री है।' वह वर्तमान विश्व की समस्याओं का एक मात्र समाधान है और विश्वबंधुत्व एवं स्थायी शान्ति स्थापित करने का एक मात्र साधन है।

वस्तुत: जैन धर्म के समस्त उपदेश का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य के वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में जो अनेक प्रकार की विषमताएँ हैं, अथवा उसकी स्वार्थपरता, संकीर्ण मनोवृत्ति या अहं के कारण नित्य उत्पन्न होती रहती हैं, उन्हें दूर कर के सुखद समत्व या पारस्परिक समताभाव की स्थापना करना है। वैयक्तिक विषमताओं को संयम साधना और इच्छाओं पर नियन्त्रण करके दूर किया जाता है। अहिंसा तथा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के सिद्धान्त द्वारा किसी को भी कष्ट न पहुँचाना तथा दूसरों को सेवा-सहायता के लिए सदैव तत्पर रहना और अचौर्य एवं अपरिग्रह या परिग्रहपरिमाण द्वारा समस्त आर्थिक विषमताओं का उन्मूलन करना, अनेकान्त द्वारा वैचारिक समत्व साधना, स्याद्वाद द्वारा वाक्संयम और जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा द्वारा आत्मोन्नयन के पथ पर बढ़ते रहना ही जैनधर्म के उपदेशों का सार है। वह देश और काल की सीमाओं से बद्ध नहीं है—सार्वकालिक है,

सार्वभौमिक है, विश्व के समस्त मानवों के लिए समान रूप से हितकर उपादेय और आचरणीय है। किसी धर्म से या मत से मूलतः इसका कोई विरोध नहीं। यह तो विश्वधर्म है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में स्थान

भारतीय धार्मिक चिन्तन में जैनधर्म के स्थान का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध विद्वान डॉ० ए० एन० उपाध्ये कथन करते हैं कि "जैनधर्म के साथ सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों की कुछ बातों में समानता तथा दूसरी ओर इन तीनों की आर्य-वैदिक धर्म भेदों के साथ समान रूप से कुछ बातों में असमानता और साथ ही जैनधर्म, आजीविक-मत, पूरणकाश्यप आदि के विचारों में एक प्रकार के सादृश्य को देखकर मैं प्राचीन काल में एक महान मागध धर्म के अस्तित्व में विश्वास करने को विवश हो जाता हूँ। यह मागध धर्म अपने मूलभूत तत्वों में विशुद्ध भारतीय था और पूर्वी भारत के गंगातटवर्ती प्रदेश में, आर्यों के मध्यदेश में प्रविष्ट होने के बहुत पूर्व ही, परिपुष्ट हो चुका था। संभवतया ब्राह्मण ग्रन्थों के युग के अंतिम पाद में यह दो धारायें, एक आर्य और दूसरी देशीय (भारतीय या मागध), परस्पर सम्पर्क में आईं। उन दोनों के पारस्परिक सम्पर्क एवं क्रिया-प्रतिक्रिया के

फलस्वरूप एक ओर तो उपनिषदों का उदय हुआ जिनके द्वारा याज्ञवल्क्य आदि ने सर्वप्रथम आत्मविद्या का प्रचार किया, दूसरी ओर प्राचीन मागध धर्म की महान परम्परा में उसके सतेज प्रतिनिधियों के रूप में तत्कालीन जैनधर्म तथा बौद्धधर्म जनता में प्रचारित याज्ञिक कर्मकांडी वैदिक धर्म के विरोध में क्षेत्र में उतरे।" भिक्खु आनन्द कौशल्यायन के विचारानुसार उपाध्ये जी ने जो इस बात पर बल दिया है कि आर्य-वैदिक विचारधारा अवैदिक देशीय विचारधारा से प्रभावित हुई और उसने उससे प्रेरणा प्राप्त की, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा का कहना है कि "निस्सन्देह कतिपय सिद्धान्तों में जैनदर्शन का बौद्ध, वेदान्त सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों के साथ साम्य है, किन्तु इस बात से जैन दर्शन का स्वतंत्र अस्तित्व, उदय और विकास असिद्ध नहीं होता। यदि कतिपय भारतीय दर्शनों के साथ उसका कुछ सादृश्य भी है तो साथ ही उसकी अपनी भी निराली विशेषतायें तथा उन दर्शनों से मौलिक स्पष्ट भेद भी हैं।" प्रो० जी० सत्यनारायणमूर्ति के शब्दों में "जैनधर्म के कुछ सिद्धान्त अपने विशिष्टतया निराले हैं और वे उसपर एक स्वतंत्र स्वाधीन अस्तित्व की छाप छोड़ते हैं!" प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती का कथन है कि "यद्यपि अपने वर्तमान ज्ञान के आधार

पर हमारे लिये जैन और ब्राह्मण धर्मों से संबंधित अनेक बातों की आपेक्षिक प्राचीनता निर्णय करना संभव नहीं है तथापि जैनधर्म की यथार्थवादिता एवं उसकी बुद्धिवादिता एक सामान्य दृष्टा का भी ध्यान आकर्षित करने से नहीं चूकती।" अन्त में, जर्मन विद्वान डा० हर्मन जैकोबी के शब्दों में, "मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि जैनधर्म अन्य सर्व धर्मों से सर्वथा विलक्षण एवं स्वतन्त्र एक मौलिक धर्म है और इसी कारण प्राचीन भारत के दार्शनिक चिन्तन एवं धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिये उसका बड़ा महत्त्व है।"

जैन संस्कृति में धर्म शब्द की परिभाषा ही 'वस्तु स्वभाव' है। जो आत्मा का अपना निरपेक्ष शुद्ध भाव या स्वरूप है वही उसका धर्म है। उस स्वभाव की प्राप्ति में मन-वचन-काय की जितनी भी चेष्टायें या क्रियायें, चाहे वे प्रवृत्ति रूप हों अथवा निवृत्तिरूप, साधक हैं, वे सभी व्यवहारतः धर्म हैं। ऐसा धर्म निश्चय ही प्राणी को दुख से निकाल कर सुख में स्थापित करता है, वह लोक और परलोक में अभ्युदय सुख की प्राप्ति करता है और अन्ततः निःश्रेयस रूप मोक्ष-सुख की उपलब्धि कराता है। वही धारण करने योग्य है और वही आत्मा का एक मात्र आधार है।

अनेक ब्राह्मण दर्शनकारों ने जैनधर्म को एक नास्तिक धर्म कह डाला है क्योंकि वह सृष्टि के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता और न वेदों को प्रमाण मानता है। किन्तु, स्वयं नास्तिक शब्द के अर्थों में अनेक बार परिवर्तन हुआ है। यह एक ऐसा जनप्रिय अपशब्द हो गया है जिसे कोई भी धर्म या मत अपने विरोधी के लिए प्रयोग कर सकता है। प्राचीन वैयाकरणियों एवं कोषकारों के अनुसार तो नास्तिक वह है जो पुनर्जन्म या परलोक में विश्वास नहीं करता। इस दृष्टि से जैनों से बड़ा आस्तिक और कौन होगा ? जैनधर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता, यह कहना भी भ्रमपूर्ण है। जैनधर्म ईश्वर एवं ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास रखता है, भले ही वह उसमें उन गुणों और कार्यों (यथा सृष्टि कर्तत्व-हर्तत्व-पालकत्व आदि) का आरोप न करता हो जो दूसरे कई धर्म वाले करते हैं और जो न अनिवार्य ही हैं, न युक्ति-सिद्ध ही। अतः निन्दादि के उद्देश्य से जैन-धर्म को नास्तिक, अनीश्वरवादी आदि शब्दों से संबोधित करना सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार भारत की प्राचीन श्रमण संस्कृति तथा अध्यात्मप्रधान महान मागध धर्म के सजीव सतेज प्रतिनिधि के रूप में जैन-धर्म, जैन-दर्शन और जैन-संस्कृति

का भारतीय धर्मों, दर्शनों और संस्कृतियों में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के दार्शनिक चिंतन, धार्मिक विचार एवं सांस्कृतिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में महावीर आदि श्रमण-तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित, प्रचारित यह 'सर्वोदयतीर्थ' मनुष्यमात्र का नहीं, प्राणीमात्र का उन्नायक एवं कल्याण-कर्ता है।

जैनं जयतु शासनम्

●

प्राचीनत्व

किसी धर्म की श्रेष्ठता एवं उपादेयता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अनिवार्यतः निर्भर नहीं होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घकालपर्यन्त सजीव, सक्रिय एवं प्रगतिवान बनी रहती है और लोक के उन्नयन, नैतिक वृद्धि तथा सांस्कृतिक समृद्धि में प्रबल प्रेरक एवं सहायक सिद्ध हुई होती है तो उसकी प्राचीनता जितना अधिक होती है वह उतना ही अधिक उक्त धर्म के स्थायी महत्त्व तथा उसमें निहित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तत्त्वों की सूचक होती है। इसके अतिरिक्त, किसी भी संस्कृति के उद्गम एवं विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी देनों का समुचित मूल्यांकन करने के लिये भी उसकी आधारभूत धार्मिक परम्परा की प्राचीनता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म की प्राचीनता में शंका करने की अथवा उसे एक अत्यन्त प्राचीन धर्म परंपरा सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यों हुई ? स्वयं जैनों की परम्परा अनुश्रुतियाँ तो सुदूर अतीत में, जबसे



भगवान आदिनाथ स्वामी



श्री बाहुबली स्वामी

भी वह मिलनी प्रारम्भ होती हैं, निर्विवाद एवं सहजरूप में उसे सर्वप्राचीन धर्म मानती ही चली आती हैं। साथ ही, बौद्ध एवं ब्राह्मणीय (हिन्दू) अनुश्रुतियाँ भी अत्यंत प्राचीनकाल से जैनधर्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करती चली आती हैं। इस विषय में भारतवर्ष के पुरातन आचार्यों एवं मनीषियों ने कभी कोई विवाद नहीं उठाया। अतएव जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु आधुनिक प्राच्यविदों एवं इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के अन्य अनेक तथ्यों की भाँति उसे भी एक समस्या बना दिया।

अठारहवीं शती ई० के अन्तिम पाद में यूरोपीय प्राच्यविदों ने जब भारतीय इतिहास, समाज, धर्म, सस्कृति, साहित्य, कला आदि का अध्ययन प्रारंभ किया तो उन्होंने उस आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया जिसमें वर्तमान को स्थिर बिन्दु मानकर प्रत्येक वस्तु के इतिहास को पीछे की ओर उसके उद्गम-स्थान या उदयकाल तक खोजते चला जाना था। जो तथ्य प्रमाण सिद्ध होते जाते और अतीत में जितनी दूर तक निश्चित रूप से ले जाते प्रतीत होते, वही उनका अथवा उनकी ऐतिहासिकता का आदिकाल निश्चित कर दिया जाता। कालान्तर में नव-उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में उक्त अवधि को और अधिक

पीछे की ओर हटा ले जाना संभव होता तो वैसा करने में भी विशेष संकोच न होता। उन्नीसवीं शती के प्राच्यविदों द्वारा पुरस्कृत्त एवं कार्यान्वित यह खोज-शोध पद्धति ही आज के युग की सर्वमान्य वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति मानी जाती है। इस परीक्षा-प्रधान बौद्धिक युग में प्रत्येक तथ्य को परीक्षा द्वारा युक्तियुक्त प्रमाणित करके ही मान्य किया जाता है। इसी पद्धति के अवलम्बन द्वारा गत डेढ़-सौ वर्षों में जैनधर्म की ऐतिहासिकता सातवीं शताब्दी ईस्वी में बौद्धधर्म की शाखा के रूप में प्रगट होने वाले एक छोटे से गौण सम्प्रदाय की स्थिति से शनैः-शनैः उठकर कम से कम वैदिकधर्म जितने प्राचीन तथा सुसमृद्ध संस्कृति से समन्वित एक महत्त्वपूर्ण भारतीय धर्म की स्थिति को प्राप्त हो गई है। वर्तमान युग में जैनधर्म संबंधी ज्ञान के विकास की तथा परिणामस्वरूप उसकी ऐतिहासिकता एवं आपेक्षिक प्राचीनता के निर्णय की एक अपनी कहानी है जो रोचक होने के साथ-साथ ज्ञानप्रद भी है। इस समय उसमें न जाकर जैन परम्परा की प्राचीनता के कतिपय प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं।

जैन परम्परा के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रंथज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान् वर्द्धमान महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व ४७०, शकशालिवाहन पूर्व ६०५ तथा

ईसा पूर्व ५२७ में हुआ था। वह बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक एवं संस्थापक शाक्यमुनि तथागत गौतम बुद्ध के ज्येष्ठ सम-कालीन थे—भगवान् बुद्ध के निर्वाण की तिथि में अनेक मतभेद हैं, किन्तु बहुमान्य आधुनिक मत के अनुसार उनका परिनिर्वाण ईसा पूर्व ४८३ में हुआ माना जाता है। बौद्धों के पालित्रिपिटक नामक प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थों में भगवान् महावीर का उल्लेख निगंठनातपुत्त (निर्ग्रंथ-ज्ञातृपुत्र) नाम से हुआ है और उन्हें श्रमण परंपरा में उत्पन्न उस काल के छः तीर्थंकरों (सर्व महान् धर्ममार्ग-प्रदर्शकों) में परिगणित किया गया है। बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त भगवान् महावीर एवं जैनधर्म संबंधी उल्लेखों से डॉ० हर्मन जेकोबी प्रभृति प्रकाण्ड प्राच्यविदों ने यह फलित निकाला है कि 'इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि महावीर और बुद्ध एक दूसरे से स्वतन्त्र किन्तु पर-स्पर प्रायः समकालीन धर्मोपदेष्टा थे। प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में जैनधर्म का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी धर्म के रूप में तो उल्लेख किया गया है, किन्तु इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं है कि वह एक नव-स्थापित सम्प्रदाय था। इसके विपरीत, उनके उल्लेख इस प्रकार के हैं कि जिनसे यह सूचित होता है कि बुद्ध के समय में निर्ग्रंथों (जैनों) का सम्प्रदाय पर्याप्त प्राचीन हो चुका था—वह बौद्धधर्म

की स्थापना के बहुत पहले से चला आ रहा था।' बौद्ध साहित्य से यह भी प्रतीत होता है कि बोधि प्राप्त करने के पूर्व गौतम बुद्ध ने सत्य की खोज में जो विविध प्रयोग किये थे उनमें एक जैन मुनि के रूप में रहकर जैन विधि से तपश्चरण आदि करना भी था। इस तथ्य का समर्थन उस जैन अनुश्रुति से भी होता है जिसके अनुसार बौद्ध-धर्म की स्थापना एक जैन साधु द्वारा हुई थी। दोनों धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि बौद्धधर्म पर जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था और बुद्ध ने अनेक बातें जैनधर्म से लेकर अपने धर्म में समाविष्ट की थीं।

बौद्ध साहित्य में लिखा है कि वैशाली के लिच्छवि निर्ग्रन्थों के प्राचीन अर्हत चैत्यों के पूजक थे। उसमें तीर्थ-कर पार्श्व के चातुर्याम धर्म का भी उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आद्य बौद्ध लोग तेइसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ के उपदेशों से संबंधित जैनों की महावीरपूर्व परम्परा से भी अवगत थे। बौद्ध धम्मपद में प्रथम तीर्थं-कर ऋषभ तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के नामोल्लेख हैं तथा बौद्धाचार्य आर्यदेव ने अपने षट्शास्त्र में ऋषभ देव को ही जैनधर्म का मूल प्रवर्तक बताया है।

आजीविक नामक एक अन्य श्रमण सम्प्रदाय के

संस्थापक मक्खलि गोशाल ने, जो महावीर और बुद्ध का प्रायः समकालीन था, समस्त मानवजाति को छः समुदायों में विभक्त किया है, जिनमें निर्ग्रन्थों का तीसरा नम्बर है। इस पर से विद्वानों का कहना है कि मानव जाति के ऐसे मौलिक विभाजन में किसी नवीन, गौण या थोड़े समय से प्रचलित सम्प्रदाय को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि डा० जैकोबी का कहना है, जैनों जैसे 'एक बहुसंख्यक सम्प्रदाय की लिपिबद्ध परम्परा अनुश्रुति को निरर्थक एवं असत्य-पुंज मानकर अस्वीकार करने के लिए भी तो कोई उचित कारण होना चाहिये। वे समस्त तथ्य एवं घटनायें जो जैनों की अत्यन्त प्राचीनता की सूचक हैं प्राचीन जैनग्रन्थों में भरी पड़ी हैं और ऐसी वास्तविकता के साथ लिखी गई हैं कि उन्हें तब तक अमान्य नहीं किया जा सकता जब तक कि उन तर्कों एवं युक्तियों से अधिक सबल प्रमाण प्रस्तुत न किये जाँय जिन्हें कि जैनधर्म की प्राचीनता में शंका करने वाले विद्वान् बहुधा प्रस्तुत करते हैं।'

वस्तुतः भ० महावीर के निर्वाण से अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व (ई० पूर्व ७७७ में) एकसौ वर्ष की आयु में सम्मेद-शिखर (बिहार राज्य के हजारीबाग जिले में स्थित पारस-

नाथ पर्वत) से निर्वाण प्राप्त करने वाले काशी के राजकुमार २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में अब प्रायः किसी पौर्वात्य या पाश्चात्य विद्वान को सन्देह नहीं है।

इतना ही नहीं, जैसा कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन का कहना है, 'इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ के भी बहुत पहले से प्रचलित रहता आया है।' डा० नगेन्द्रनाथ वसु का मत है कि 'भ० पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भ० कृष्ण के ताऊजात भाई थे। यदि हम कृष्ण की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं तो कोई कारण नहीं कि हम उनके समकालीन २२ वें तीर्थंकर भ० नेमिनाथ को एक वास्तविक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति मान्य न करें।' प्रो० कर्वे, कर्नल जेम्स टाड, मेजर जन० जी० जे० आर० कर्लांग, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान भ० नेमिनाथ की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं। यजुर्वेद आदि में तीर्थंकर नेमिनाथ अपर नाम अरिष्टनेमि का उल्लेख पाया जाता है और डा० काशी प्रसाद जायसवाल प्रभृति कई विद्वानों का मत है कि अथर्ववेद में उल्लिखित व्रात्य वह व्रात्यक्षत्रिय या क्षात्रबन्धु थे जिनकी निन्दा उनके अवैदिक होने के कारण वैदिक

साहित्य, मनुस्मृति आदि में की गई है, और जो वस्तुत: जैनधर्म के अनुयायी थे।

प्राचीन भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार महाभारत में वर्णित घटनाओं के पूर्व रामायण में वर्णित घटनाओं का युग था। इस महाकाव्य के नायक अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) भ० रामचन्द्र का जैन परम्परा में भी हिन्दू परम्परा जैसा ही आदरणीय स्थान है। वह बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुए थे। उसके भी पूर्वकाल की राजा बसु तथा राजा वेन संबंधी हिन्दू पौराणिक कथायें जैन अनुश्रुतियों से समर्थित हैं।

वास्तव में, जैसा कि प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है, "भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास उतना ही जैन है जितना कि वह अपने आपको वेदों का अनुयायी कहने वालों का है। जैनों की मान्यता के अनुसार महावीर के पूर्व २३ और तीर्थंकर हो चुके थे। इस विश्वास को सर्वथा भ्रमपूर्ण और निराधार मान लेना तथा समस्त पूर्ववर्ती तीर्थंकरों को काल्पनिक एवं अनैतिहासिक मान बैठना न तो न्यायसंगत ही है और न उचित ही है। इस मान्यता में विश्वास न करने योग्य बात कुछ भी नहीं है।"

जैनों की असंदिग्ध मान्यता कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) ने ही सर्वप्रथम धर्म का प्रवर्तन

किया एवं कर्मयुग का सूत्रपात किया, उन्हीं ऋषभदेव का ऋग्वेदादि में उल्लेख होना, ब्राह्मणीय पुराणों मे उन्हें विष्णु का एक प्रारंभिक अवतार घोषित करना तथा आर्हत (जैन) मत का प्रवर्तक-प्रचारक मानना, प्रागार्य एव प्राग्वैदिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेषों में उन्हीं वृषभलांछन योगिराज ऋषभ की कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानस्थ आकृतियाँ मुद्रांकित पाया जाना, साथ ही जीव-वाद, परमाणुवाद जैसी जैनों की अत्यन्त मौलिक आदिम-युगीन तात्विक मान्यतायें, उसे न केवल एक सर्वथा स्वतंत्र एवं शुद्ध भारतीय धार्मिक परम्परा सिद्ध करती हैं, वरन् प्राग्वैदिककालीन भी सूचित करती हैं।

अस्तु, उपरोक्त प्रमाण बाहुल्य के आधार पर अनेक प्रख्यात विद्वान् जैन-परम्परा को आपेक्षिक प्राचीनता में सन्देह नहीं करते। यदि कुछ विद्वानों के अनुसार 'यह अहिंसा प्रधान जैनधर्म, अधिक भी नहीं तो कम-से-कम वेदों और वैदिक धर्म जितना प्राचीन अवश्य है', तो कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि 'जैनों और उनके धार्मिक साहित्य-संबंधी वर्तमान ज्ञान के आधार पर हमारे लिये यह सिद्ध करना तनिक भी कठिन नहीं है कि बौद्धधर्म अथवा वैदिक धर्म की शाखा होना तो दूर की बात है, जैनधर्म निश्चयतः भारतवर्षका अपना एक सर्वप्राचीन धर्म

है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता आया है।' अतएव, यह बात प्रायः निःसंकोच कही जा सकती है कि प्रागऐतिहासिक काल के प्रकृत्याश्रित पाषाण युग से ही, जब से भी भारत एवं भारतीयों का इतिवृत्त किसी न किसी रूप में मिलना प्रारम्भ हो जाता है, तभी से उसके साथ वर्तमान में जिसे जैनधर्म और जैनसंस्कृति के नाम से जाना जाता है उस धार्मिक परम्परा एवं तत्संबंधी संस्कृति का संबंध बराबर मिलता चला आता है। वस्तुतः जैनधर्म परम्परामूलक अथवा सनातन है। वह बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, सिख प्रभृति धर्मों की भाँति ऐतिहासिक नहीं है, जिसके कि संस्थापक और स्थापना की निश्चित तिथि और ऐतिहासिकता प्रतिपादित की जा सके। आदिम मानव में जब भी धर्मभाव का जो उदय हुआ, उसी से शनैः शनैः विकसित होता हुआ और एक के बाद एक तीर्थंकरों द्वारा व्यवस्थित, आचारित एवं प्रचारित होता हुआ यह मानव का स्वभावगत और भारतवर्ष का परम्परागत मौलिक धर्म है।

इतिहास

जैनधर्म का परम्परा-इतिहास अधुनाज्ञात पाषाण-युगीन आदिम मानव से प्रारंभ होता है। उस काल का मानव, असभ्य, असंस्कृत किन्तु सरल एवं निर्दोष था। उसकी इच्छायें एवं आवश्यकतायें अत्यन्त सीमित थीं और जीवन प्रायः पूर्णतया प्रकृत्याश्रित था। उस युग में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक किसी प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी, न ग्राम और नगर थे और न कोई उद्योग धंधे। एक के बाद एक होने वाले चौदह कुलकरों या मनुओं ने उस काल के मानवों का नेतृत्व एवं मार्गदर्शन किया और समयानुसारी सरलतम व्यवस्थायें दीं। यह युग जैन परम्परा में भोगभूमि कहलाता है।

अन्तिम कुलकर नाभिराय थे, जिनकी पत्नि मरुदेवी से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव का जन्म हुआ। इनके जन्मस्थान पर ही अयोध्या नाम का प्रथम नगर बसा। ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम कर्मभूमि या कर्मप्रधान जीवनका ॐ नमः किया, ग्राम-नगर बसाये, कृषि, शिल्प आदि उद्योग धन्धों का प्रचलन किया, विवाहप्रथा, समाज व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था स्थापित की, लोगों को अक्षर-

ज्ञान एवं अंकज्ञान दिया। अन्त में गृहत्यागी होकर तपस्या द्वारा आत्मशोधन किया, केवलज्ञान प्राप्त किया और धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। लोक के कल्याण के लिये जिस सरलतम धर्मका उन्होंने उपदेश दिया था वह अहिंसा, संयम, तप एवं योगप्रधान मोक्षमार्ग था। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत सर्वप्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे—उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ। भरत के अनुज बाहुबलि परम तपस्वी थे—दक्षिण भारत में श्रवण-बेलगोल आदि की अत्यन्त विशालकाय गोम्मट मूर्तियाँ उन्हीं की हैं।

ऋषभदेव के उपरान्त क्रमशः अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान्स, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि नाम के श्रमण तीर्थंकर हुए, जिन्होंने अपने-अपने समय में उसी अहिंसाप्रधान आत्मधर्म का उपदेश दिया। ये तीर्थंकर एक दूसरे से पर्याप्त समयान्तर से हुए। इनमें से प्रथम तीर्थंकर तो प्राग्ऐतिहासिक सिन्धु घाटी सभ्यता के युग से भी पूर्ववर्ती हैं, दूसरे से नौवें पर्यन्त उक्त सभ्यता के समसामयिक रहे प्रतीत होते हैं। दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के समय में। ब्राह्मण वैदिक धर्म का उदय हुआ प्रतीत होता है, जिसका कालान्तर में उत्त-

रोत्तर उत्कर्ष एवं प्रसार होता गया। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में ही अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी [ऋषभदेव की संज्ञा इक्ष्वाकु भी थी] महाराज रामचन्द्र हुए जो अन्ततः अर्हतकेवलि होकर मोक्षगामी हुए। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ ने मिथिलापुरी में अध्यात्मवाद का प्रचार किया जिसने कालान्तर में औपनिषदिक आत्मविद्या का रूप लिया। बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि महाभारत काल में हुए और नारायण कृष्ण के ताऊ-जात भाई थे। कृष्ण उस युग की राजनीति के तो सर्वोपरि नेता थे ही, उन्होंने ब्राह्मण और श्रमण, अथवा वैदिक और व्रात्य, संस्कृतियों के आर्य और द्रविड़ जातियों के समन्वय का भी स्तुत्य प्रयत्न किया।

महाभारत युद्ध के कई शताब्दी पूर्व से ही वैदिक धर्म के उत्तरोत्तर वृद्धिगत उत्कर्ष के सन्मुख श्रमणधर्म अनेक अंशों में पराभूत-सा हो गया था और काशी, मगध, विदेह आदि पूर्वस्थ प्रदेशों की ओर दबता चला गया था। किन्तु उस महायुद्ध के परिणामस्वरूप वैदिक आर्यों की राज्यशक्ति एवं वैदिक धर्म का प्रभाव पतनोन्मुख हुए और भारतीय इतिहास का उत्तर-वैदिक युग प्रारंभ हुआ, जो साथ ही श्रमणधर्म के पुनरुत्थान का युग था। तीर्थंकर नेमि और नारायण कृष्ण इस श्रमण पुनरुत्थान के

प्रस्तोता थे और २३वें तीर्थंकर (८७७-७७७ ईसा पूर्व) उक्त आन्दोलन के सर्वमहान नेता थे। अन्त में अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (५९९-५२७ ईसा पूर्व) द्वारा वह पुनरुत्थान पूर्णतया निष्पन्न हुआ।

महावीर का युग महामानवों का महायुग था और उनमें स्वयं उनका व्यक्तित्व सर्वोपरि था। उसी युग में शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध ने बौद्धधर्म की स्थापना की। यह भी श्रमण-परम्परा का ही एक सम्प्रदाय था। आजीविक सम्प्रदाय प्रवर्तक मक्खलिगोशाल प्रभृति अन्य अनेक श्रमण धर्मोपदेष्टा भी उस काल में अपने-अपने मतों का यत्र-तत्र प्रचार कर रहे थे। उस काल के अथवा उत्तर-वर्ती युगों के जैनों ने और स्वयं महावीर ने भी यह कभी नहीं कहा कि उन्होंने किसी नवीन धर्म की स्थापना की है। वह तो पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों की धर्म-परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते थे। उसी का स्वयं आचरण करके लोक के सन्मुख उन्होंने अपना सजीव आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होंने उक्त धर्म व्यवस्था में कतिपय समया-नुसारी सुधार-संशोधन भी किये, उसके तात्विक एवं दार्शनिक आधार को सुदृढ़ एवं व्यवस्थित किया और चतुर्विध जैन संघ का पुनर्गठन किया तथा उसे एक सशक्त संस्था बना दी।

महावीर के पार्श्व आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों का जैन-धर्म पहले से ही देश के अनेक भागों में प्रचलित था। कालदोष से उसमें जो शिथिलता आ गई थी वह दूर हुई और उसमें नया प्राण-संचार हुआ। महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा में क्रमशः गौतम, सुधर्म एवं जम्बू नामक तीन अर्हंत-केवलियों ने उनके संघ का नेतृत्व किया। तदनन्तर क्रमशः पाँच श्रुतकेवली हुए जिनमें भद्रबाहु प्रथम (ईसापूर्व ४ थी शती के मध्य के लगभग) अन्तिम थे। उस समय उत्तर भारत के मगध आदि प्रदेशों में बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप जैन साधु संघ का एक बड़ा भाग दक्षिण भारत की ओर विहार कर गया। इसी घटना में संघभेद के वह बीज पड़ गये जिन्होंने आगे चलकर दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायभेद का रूप ले लिया। साधु संघ गण-गच्छ आदि में भी शनैः शनैः विभक्त होता गया और कालान्तर में अन्य अनेक सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय भी उत्पन्न हुए। उपरोक्त दुर्भिक्ष के बाद ही यह भी अनुभव किया जाने लगा कि परम्परा से चले आये श्रुतागम का जितना जो अंश सुरक्षित रह गया है उसका पुस्तकीकरण कर दिया जाय। दूसरी शती ईसापूर्व के द्वितीय पाद में उड़ीसा में हुए महामुनि सम्मे-

लन में यह प्रश्न उठा और मथुरा के जैन साधुओं ने इस सरस्वती आन्दोलन का अथक प्रचार किया। फलस्वरूप ईसापूर्व प्रथम शती से ही आगमोद्धार एवं पुस्तकीकरण का कार्य प्रारंभ हो गया और पाँचवीं शती ई० के अन्त तक विभिन्न सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी परंपरा में सुरक्षित जिनवाणी को लिपिबद्ध कर लिया था। मूल ग्रन्थों पर निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति, भाष्य, टीका आदि विपुलव्याख्या साहित्य का सृजन तथा विविध स्वतन्त्र ग्रंथों का प्रणयन चालू हो गया था। देश और काल की परिस्थितियोंवश जेन-संस्कृति के केन्द्र अदलते-बदलते रहे, बहुमुखी विकास भी होता रहा और उत्थान-पतन भी होते रहे।

इस इतिहास काल में जैनधर्म को राजाश्रय एवं जन सामान्य का आश्रय भी विभिन्न प्रदेशों में बहुधा प्राप्त रहा। मगध के बिम्बसार (श्रेणिक) आदि शिशुनाग वंशी नरेश, उनके उत्तराधिकारी नन्दवंशी महाराजे और मौर्य सम्राट जैनधर्म के अनुयायी अथवा प्रबल पोषक रहे। मौर्य चन्द्रगुप्त एवं सम्प्रति के नाम तो जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे हैं। दूसरी शती ईसापूर्व में मौर्य वंश की समाप्ति पर ब्राह्मण धर्मी शुंग एवं कण्व राजाओं के काल में मगध में जैनधर्म का पतन हो गया, किन्तु

मथुरा, उज्जयिनी और कलिंग उसके सुशक्त केन्द्र बन गये। कलिंग चक्रवर्ती सम्राट खारखेल, जो अपने युग का सर्वाधिक शक्तिशाली भारतीय नरेश था, जैनधर्म का परम भक्त था। इसी प्रकार संवत् प्रवर्तक मालवगण का नेता वीर विक्रमादित्य भी जैन था।

इस समय के बाद उत्तर भारत में जैनधर्म को कोई उल्लेखनीय राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ प्रतीत होता। कतिपय छोटे राजाओं, सामन्त-सरदारों, कभी-कभी राज्यपरिवारों के कुछ व्यक्तियों को छोड़कर कोई सम्राट, बड़ा नरेश या राज्यवंश इस धर्म का अनुयायी नहीं हुआ लगता, किन्तु उस पर प्राय: कोई अत्याचार और उत्पीड़न भी नहीं हुआ। सामान्यत: यवन, पल्हव, शक, कुषाण, मित्र, नाग, वकाटक, गुप्त, मौरवार, वर्धन, आयुध, गुर्नर प्रतिहार, गहड़वाल, तोमर, चौहान, भर आदि पूर्व मुस्लिम-कालीन प्राय: सभी महत्वपूर्ण शासकों से उसे सहिष्णुतापूर्ण उदारता का ही व्यवहार प्राप्त हुआ। मध्यप्रदेश और मालवा के कलचुरि, परमार, कच्छपघट, चन्देल आदि नरेशों से, गुजरात के मैत्रेय, चावड़ा, सोलंकी और बघेले राजाओं से तथा राजस्थान के प्राय: सभी राज्यों में पर्याप्त प्रश्रय और संरक्षण भी प्राप्त हुआ। राजस्थान में तो यह स्थिति वर्तमान काल पर्यन्त

चलती रही। मन्त्री, दीवान, भंडारी, दुर्गपाल, सेनानायक आदि पदों पर भी अनेक जैन नियुक्त होते रहे और वाणिज्य व्यापार एवं साहूकारा तो अधिकतर उनके हाथ में रहता रहा। राजस्थान में अनेक राजदूत भी जैनधर्म के अनुयायी हुए, कुछ अब भी हैं।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में जैनधर्म की स्थिति कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं सुदृढ़ रही। ईस्वी सन् के प्रारंभ से लेकर १६वीं शती के मध्य में विजयनगर साम्राज्य के पतन पर्यन्त तो अनेक उत्थान-पतनों के बावजूद वह वहाँ एक प्रमुख धर्म बना रहा। सुदूर दक्षिण के प्रारम्भिक चेर, पांड्य, चोल, पल्लव, कर्णाटक का गंगवंश और दक्षिणापथ के कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्तरवर्ती चालुक्य, कलचुरि, होयसल आदि वंशों के अनेक नरेश, उनके अनेक सामन्त, सरदार, सेनापति, दण्डनायक, मन्त्री, राज्य एवं नगर श्रेष्ठि जैनधर्म के अनुयायी हुए। जनसामान्य के भी प्रायः सभी जातियों एवं वर्गों में उसका अल्पाधिक प्रचार रहा। किन्तु वहीं ७वीं शती के शैव नयनारों और वैष्णव अलवारों के प्रभाव में कई नरेशों ने तथा ११वीं-१२वीं शती से शैवधर्मी चोल सम्राटों ने, रामानुजाचार्य के अनुयायी कतिपय वैष्णव राजाओं ने तथा वासव के लिंगायत (वीर

शैव) धर्म के अनुयायी अनेक नायकों ने जैनधर्म और जैनों पर अमानुषिक अत्याचार भी किये। परिणाम-स्वरूप शनैः शनैः उसकी स्थिति एक प्रमुख धर्म की स्थिति से गिरकर एक गौण सम्प्रदाय की रह गई।

१३वीं शती के प्रारम्भ से लेकर १८वीं शती के प्रारम्भ तक भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की प्रधानता रही और उस काल में जैनधर्म की स्थिति तथाकथित हिन्दूधर्म जैसी ही रही। शासकों की दृष्टि में दोनों में कोई भेद नहीं था, दोनों ही विधर्मी काफिर थे। जैनों का संख्याबल उत्तरोत्तर घटता गया और वे वाणिज्य व्यापार में ही सीमित होते गये, इसीलिये शांतिप्रिय एवं निरीह होने के कारण शासकों के धार्मिक अत्याचार के शिकार भी अधिक नहीं हुए। उस काल में अन्त के डेढ़-सौ वर्षों का मुगल शासन अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु रहा।

तदनन्तर लगभग डेढ़ सौ वर्ष देश में अराजकता का अन्ध युग रहा, जब किसी का भी धन, जन एवं धर्म सुरक्षित नहीं था। उसके पश्चात्, १९वीं शती के मध्य के लगभग से लेकर १९४७ में स्वतंत्रताप्राप्ति पर्यन्त, देश पर अंग्रेजों का शासन रहा। शान्ति, सुरक्षा, न्याय शासन, पश्चिमी शिक्षा का प्रचार, पुस्तकों एवं समाचार पत्रों का मुद्रण-प्रकाशन, यातायात के साधनों का अभूत-

पूर्व विस्तार, नव जागृति, समाजसुधार एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये किये गये आन्दोलन एवं संघर्ष इस युग की प्रमुख विशेषतायें रहीं और जैनीजन उन सबसे ही यथेच्छ प्रभावित रहे। उन्होंने सभी दिशाओं में प्रगति की, स्वातन्त्र्य संग्राम में भी सोत्साह सक्रिय भाग लिया और बलिदान दिये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्र के पुनर्निर्माण में उनका उपयुक्त योगदान रह रहा है। जैनधर्म अपनी मौलिक विशेषताओं को लिये हुए अब भी एक सजीव सचेत जीवन दर्शन है और वर्तमान युग की चुनौतियों को स्वीकार करने में सक्षम है।

धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, आचार-विचार, प्रायः सभी क्षेत्रों में उसकी सांस्कृतिक बपौती भी स्पृहणीय है।

●

साहित्य और कला

ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने अपने-अपने समय में जो उपदेश दिया और जिसे अन्तिम तीर्थंकर के गणधरों ने अन्ततः वर्गीकृत करके व्यवस्थित किया उसे जिनवाणी, श्रुत या आगम कहते हैं। द्वादशांग-श्रुत, ग्यारह अंग-चौदह पूर्व, अथवा सूत्र संज्ञा भी उसे दी जाती है। इस गुरुपरंपरा से चले आये श्रुतागम के जिन अंशों का पुरातन प्रमाणिक आचार्यों द्वारा उद्धार होकर पुस्तकीकरण हुआ वही आगम साहित्य कहलाता है। किन्हीं आचार्यों ने श्रुतागम के उपयोगी अंशों का संक्षिप्तीकरण किया तथा उसके आधार पर तदनुसारी स्वतंत्र प्रकरणों की भी रचना की, वह सब आगमिक साहित्य है। आगमसूत्रों एवं मौलिक आगमिक ग्रन्थों की अनगिनत एवं विशाल टीकायें, व्याख्यायें भाष्य आदि भी रचे गये, कालान्तर में अनेक स्वतंत्र रचनायें भी उदय में आईं और सम्पूर्ण धर्म साहित्य को प्रथमानुयोग (पुराण-चरित्र-कथादि), चरणानुयोग (मुनि एवं श्रावकों की आचार संहितायें एवं चारित्रिक नियम—उपनियम), करणानुयोग (लोक का स्वरूप और उसमें स्थित जीवों के भेद-प्रभेद

आदि), तथा द्रव्यानुयोग (शुद्ध द्रव्यों का निरूपण) नाम के चार अनुयोगों में विभाजित किया गया।

उक्त अनुयोगों में गर्भित सैद्धान्तिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनगिनत भक्तिपरक स्तोत्र—स्तवनादि, मन्त्रशास्त्र, न्यायशास्त्र, पूजा-प्रतिष्ठापाठादि साहित्य भी प्रभूत मात्रा में रचा गया।

शुद्ध धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त, जैन विद्वानों ने व्याकरण, कोष, तर्क, छन्द, अलंकार, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, स्थापत्य, शिल्प, संगीत, इतिहास, राजनीति इत्यादि विविध लौकिक विषयों पर भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे। गद्य, पद्य, नाटक, काव्य, चम्पु आदि साहित्य की प्रायः सभी अपने अपने समय में प्रचलित विधाओं का उन्होंने सफल प्रयोग किया।

प्राचीनतम उपलब्ध जैन साहित्य अर्धमागधी एवं महाराष्ट्री प्राकृतों मे निबद्ध है। तदन्तर, संस्कृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, कन्नडी तामिल, तैलगू आदि प्रायः सभी अपने—अपने समय में प्रचलित भाषाओं मे जैन साहित्यकारों ने ग्रन्थ रचना की उनका साहित्यिक योगदान इतना अधिक एवं महत्वपूर्ण है कि उक्त भाषाओं के विकास एवं उनके साहित्यिक इतिहास का अध्ययन तत्तद जैन साहित्य के बिना हो ही

नहीं सकता। भारतीय साहित्य के इतिहास के जितने ग्रन्थ पाश्चात्य अथवा पौर्वात्य विद्वानों द्वारा रचे गये हैं और भारतीय विद्या (इन्डोलाजी) संबंधी जितनी भी संदर्भग्रंथ सूचियाँ (बिबेलियोग्रेफीज) बनी हैं, उनके अवलोकन से उपरोक्त तथ्य सहज सिद्ध है।

यों तो प्रायः प्रत्येक जैन मंदिर, मठ या उपाश्रय में एक छोटा-मोटा शास्त्रभंडार रहता है, किन्तु देश के विभिन्न भागों में ऐसे भी अनेक प्राचीन शास्त्रभण्डार हैं जिनमें से प्रत्येक में सहस्त्रों पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं। गत एक सौ वर्षों में उक्त प्राचीन पांडुलिपियों में से बहुभाग मुद्रित प्रकाशित हो चुकी हैं और नित्य हो रही हैं, तथापि अभी भी सैकड़ों ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हैं। सभी भण्डारों की विधिवत खोज भो अभी पूर्ण नहीं हो पाई है इनके अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती, बंगाली, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी आदि विभिन्न आधुनिक भाषाओं में हजारों छोटी बड़ी स्वतंत्र पुस्तकें जैनधर्म और संस्कृति के विविध अंगों का स्पर्श करने वाली प्रकाशित हो चुकी हैं। वर्तमान में जैनों की अल्पसंख्या को देखते हुए उनका साहित्यिक सृजन अपेक्षाकृत बहुत अधिक है।

कला के क्षेत्र में भी भारतीय कला की समृद्धि में जैनों का योगदान अप्रतिम रहा है। काव्य, संगीत,

चित्र, मूर्त्त, स्थापत्य—प्रायः समस्त ललित कलाओं में विभिन्न युगों एवं प्रदेशों की शैलियों में तथा प्रत्येक कला की विभिन्न विधाओं में उन्होंने उत्कृष्ट कृतियों द्वारा देश के कला भण्डार को भरा है। भारतीय कला में जैनकला अपना विशिष्ट एवं सराहनीय स्थान रखती है। आधुनिक युग में यूरोपीय अथवा भारतीय विद्वानों द्वारा रचित भारतीय कला एवं स्थापत्यशिल्प विषयक कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें विविध जैन कला कृतियों का वर्णन विवेचन न हो।

ग्रन्थ प्रतियों के सुलेखन, अलंकरण तथा उनमें से अनेक में कलापूर्ण लघु चित्रों के सयोजन, एलोरा, बादामी, धाराशिव आदि की प्राचीनलेणों (गुफाओं) के भित्तिचित्र तथा अनेक मध्यकालीन एवं अर्वाचीन मन्दिरों, मठों आदि की दीवारों एवं छतों पर निर्मित भित्तिचित्र भारतीय चित्रकला के श्रेष्ठ उदाहरण है। इस प्रसंग में अनेक सचित्र विज्ञप्ति पत्र भी उल्लेखनीय है। विविध पाषाण, धातु, रत्न आदि विभिन्न उपादानों से निर्मित अनगिनत छोटी-बड़ी तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त विभिन्न देवी-देवताओं, यक्ष-यक्षियों आदि की तथा कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्तियों की मूर्तियां भी जो अनेक स्थानों में प्राप्त है, पर्याप्त कला-

पूर्ण हैं। समूचे पहाड़ों को काट कर बनाये गये प्राचीन गुहामन्दिर, जिनमें एलोरा की जगन्नाथसभा एवं इन्द्र-सभा बेजोड़ हैं, और आबू, राणकपुर, खजुराहो आदि के जिनमन्दिरों के नयनाभिराम प्रस्तरांकन उनके निर्माता शिल्पियों के अद्‌भुत हस्तकौशल तथा निर्मापकों जैन श्रावकों के धर्मोत्साह, उदारता एवं कलाभिरुचि के सजीव प्रमाण हैं। विशाल एवं कलापूर्ण मन्दिरों, मन्दिर समूहों, निषद्याओं, छत्रियों, स्तूपों, मानस्तंभों, कीर्तिस्तंभों आदि अनेक रूपों में स्थापत्य शिल्प को जैनों ने प्रभूत प्रश्रय दिया। देश के कला की दृष्टि से दर्शनीय एवं अध्ययनीय प्रमुख स्थानों की सूची में खंडगिरि-उदयगिरि, श्रवण बेलगोल, एलोरा, आबू, खजुराहो, राणकपुर आदि के अनेक जैन निर्माण उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

●

तीर्थस्थान

किसी जलाशय, नदी या सागर के तीरवर्ती उस घाट को जहाँ से उसे सुगमता से पार किया जा सकता है 'तीर्थ' कहते है। अतएव जन्म-मरण एवं दुःखरूप संसार-सागर से पार करने के साधनों को 'धर्मतीर्थ' कहा जाता है। धर्मतीर्थ के प्रवर्तक 'तीर्थंकर' कहलाते हैं और उक्त तीर्थंकरों के जीवन की घटनाओं से सम्बद्ध अथवा अन्य धार्मिक कारणों से प्रसिद्धि को प्राप्त होने वाले स्थान तीर्थस्थान या तीर्थक्षेत्र कहलाते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से चला आया जैनधर्म भारतवर्ष के कोने-कोने में व्याप्त रहा है—प्रदेश विशेष में उसका प्रचार-प्रसार किसी युग में अत्यल्प रहा तो अन्य किसी युग में वहाँ उसका प्रभूत उत्कर्ष भी रहा। पुरातात्विक सर्वेक्षकों का मत है कि भारतवर्ष में किसी भी स्थान को केन्द्रबिन्दु मानकर यदि बारह मील अर्ध व्यास का वृत्त खींचा जाय तो उसके भीतर एक वा अधिक प्राचीन या अर्वाचीन जिनायतन, जैन पवित्र स्थान, स्मारक अथवा जैन कलाकृतियों के भग्नावशेष अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार इस देश में सर्वत्र सैकड़ों जैन तीर्थ-

क्षेत्र या सांस्कृतिक केंद्र फैले पड़े हैं, जिनमें से अनेक स्थापत्य एवं मूर्त्त कला के श्रेष्ठ भण्डार हैं। वर्ष के विभिन्न समयों में भारतवर्ष के कोने-कोने से सहस्रों जैन तीर्थयात्री इन पवित्र स्थानों की यात्रार्थ जाते हैं। जैन तीर्थक्षेत्रों की यह विशेषता है कि वे बहुधा बस्तियों से अलग, पर्वतशिखरों या वन्यस्थलियों के मध्य प्रायः निर्जन शान्त वातावरण में स्थित हैं। पंडे-पुजारियों की नोच-खसोट एवं भ्रष्टाचार तथा अन्य दुराचार पोषक प्रवृत्तियों से जैन तीर्थक्षेत्र प्रायः मुक्त हैं। तीर्थयात्री भी इन पवित्र स्थानों में अपना समय अधिकांशतः धर्म साधन में ही व्यतीत करते हैं। उक्त तीर्थ स्थानों में प्रमुख निम्नलिखित हैं—

अयोध्या—(उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में)—ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ और अनन्तनाथ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पंचम तथा चौदहवें तीर्थंकरों की जन्मभूमि, जैन इतिहास की अन्य अनेक घटनाओं से सम्बद्ध, भगवान् महावीर भी यहाँ पधारे थे।

श्रावस्ती— (उ० प्र० के बहराइच जिले में सहेट-महेट के खंडहरों से चीन्हित)—तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथ की जन्मभूमि, भ० महावीर भी पधारे थे।

कौशाम्बी—(उ०प्र० के इलाहाबाद जिले में कोसम के खंडहरों से चीन्हित)—छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की जन्मभूमि, भगवान् महावीर की जीवन घटनाओं से भी सम्बद्ध। निकटवर्ती पभोसा पर्वत तीर्थंकर पद्मप्रभ की तपोभूमि रहा।

वाराणसी—सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व एवं २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मभूमि, भगवान् महावीर का भी विहार हुआ। निकटवर्ती सिंहपुरी (सारनाथ) ११वें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ की तथा नातिदूर गंगातटवर्ती चन्द्रपुरी (चन्द्रावती) ८वें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमियाँ हैं।

काकंदी—(उ० प्र० के देवरिया जिले में स्थित खुखुंदो से चीन्हित) ९वें तीर्थङ्कर पुष्पदन्त की जन्मभूमि।

भद्दिलपुर या भद्रिकावती—(मध्य प्रदेश के भिल्सा अपरनाम विदिशा से चीन्हित)—१०वें तीर्थङ्कर शीतलनाथ की जन्मभूमि। निकटवर्ती उदयगिरि पहाड़ी में गुप्तकालीन प्राचीन जैन गुफामन्दिर हैं।

चम्पापुर—(बिहार राज्य के भागलपुर जिले में स्थित)–१२वें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्मस्थान, निकटवर्ती मन्दारगिरि को उनका मोक्षस्थान माना जाता है।

काम्पिल्य—(उ०प्र० के फर्रुखाबाद जिले में)–१३वें

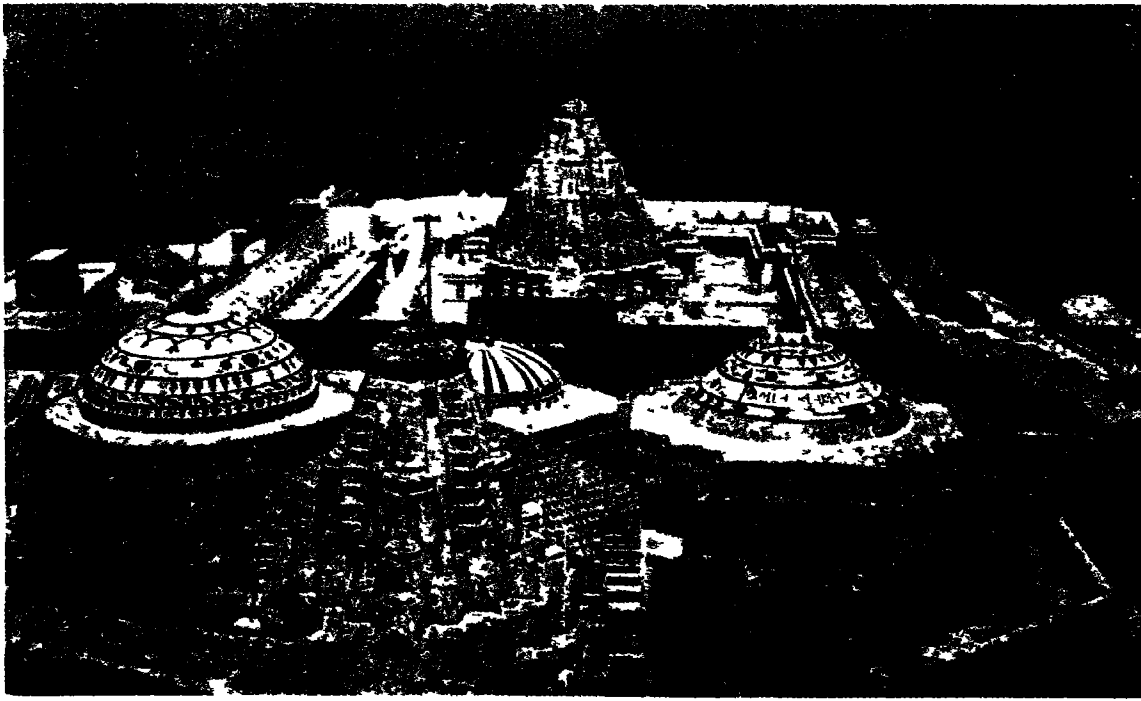
तीर्थंकर विमलनाथ की जन्मभूमि, भगवान् महावीर भी पधारे थे।

रत्नपुरी—(उ०प्र० के फैजाबाद जिले में सुहावल स्टेशन के निकट रौनाई से चीन्हित)—१५वें तीर्थंकर धर्मनाथ की जन्मभूमि।

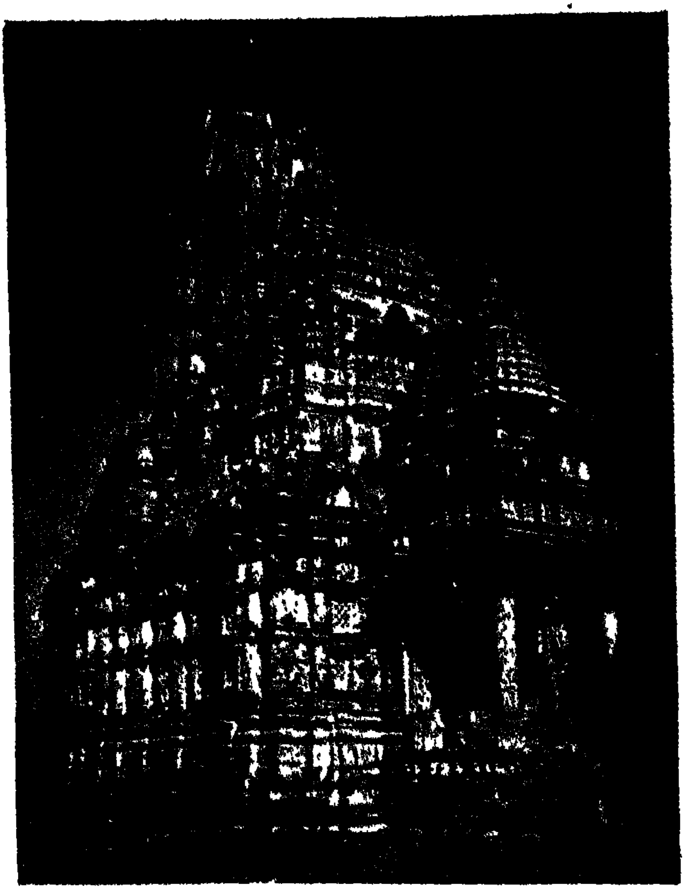
हस्तिनापुर—(उ०प्र० के मेरठ जिले में स्थित) १६-वें, १७वे एवं १८वें तीर्थंकरों शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ की जन्मभूमि, जैन इतिहास की अन्य अनेक घटनाओं से सम्बद्ध, भगवान् महावीर भी पधारे थे।

मिथिलापुरी—(बिहार राज्य के दरभंगा जिले में) १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ तथा २१वें तीर्थंकर नेमिनाथ की जन्मभूमि।

राजगृह—(बिहार राज्य के पटना जिले में राज-गिरि)—२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि, जैन इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं से सम्बद्ध, भगवान् महावीर का प्रथम उपदेश इसी नगर के विपुलाचल पर हुआ था। इस पंचशैलपुर की अन्य चार पहाड़ियाँ—रत्न-गिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि एवं वैभारगिरि भी पवित्र समझी जाती हैं। सभी पर जिनमन्दिर बने हैं। राज-गिरि में सोनभण्डार गुफा आदि कई अन्य प्राचीन जैन स्मारक भी हैं।



जूनागढ (गिरनार) के प्रसिद्ध मंदिरों का समूह



खजुराहा का पार्श्वनाथ मंदिर

सौरिपुर—(उ०प्र० के आगरा जिले में यमुना तट-वर्ती बटेश्वर के निकटवर्ती खंडहरों से चीन्हित)—२२वें तीर्थंकर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) की जन्मभूमि ।

कुण्डलपुर-कुण्डग्राम-वैशाली—(बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ के खंडहरों से चीन्हित)—अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्मस्थान। कुण्ड-ग्राम महानगरी वैशाली का उपनगर था । स्वयं वैशाली भगवान् महावीर के जीवन से घनिष्ठतया संबद्ध रही ।

कैलाश पर्वत(अष्टापद)—(तिब्बत में स्थित, अब चीन सरकार के अधिकार में)—प्रथम तीर्थंकर ऋषभ-देव की निर्वाणभूमि ।

सम्मेदशिखर—(बिहार राज्य के हजारीबाग जिले में स्थित पर्वत)—पहले, बारहवें, बाईसवें और अंतिम तीर्थंकरों को छोड़कर शेष बीस तीर्थंकरों की निर्वा-णभूमि । इसे पारसनाथ पहाड़ भी कहते हैं ।

गिरिनार (उज्जयन्त गिरि)—(गुजरात राज्यके सौराष्ट्र प्रदेश में स्थित पर्वत)—बाइसवें तीर्थंकर नेमि-नाथ की तपोभूमि एवं निर्वाणस्थल ।

पावापुर—(बिहार राज्य के पटना जिले में स्थित) यहाँ के पद्मसरोवर के तट पर भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ था ।

प्रयाग—(उ०प्र० का इलाहाबाद), अपरनाम पुरिमताल, यहाँ अक्षयवट के नीचे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को कैवल्य प्राप्ति हुई थी।

कुलुआ पहाड़—(बिहार राज्य में गया के निकट) —१८वें तीर्थंकर शीतलनाथ का कैवल्य प्राप्ति स्थान।

अहिच्छत्रा—(उ०प्र० में बरेली जिले के रामनगर के निकटस्थ खंडहरों से चीन्हित]—२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर किये गये घोर उपसर्ग एवं उनके केवलज्ञान प्राप्ति का स्थान।

गुणावा—(बिहार राज्य में गया के निकट) भ० महावीर के प्रधान गणधर गौतमस्वामी का निर्वाण स्थल।

मथुरा—(उत्तर प्रदेश में स्थित)—अन्तिम केवलि जम्बूस्वामी का निर्वाण यहाँ के चौरासी नामक स्थान पर हुआ था। मथुरा में ही अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप (वर्तमान कंकाली टीले पर) स्थित था। मौर्यकाल से लेकर गुप्तकालपर्यन्त, लगभग एक सहस्र वर्ष तक यह स्थान एक प्रमुख जैन सांस्कृतिक केन्द्र रहा था। उस काल की अनगिनत जैन कलाकृतियाँ पुरातात्विक उत्खनन में वहाँ से प्राप्त हुई हैं।

पटना—(प्राचीन पाटलिपुत्र, बिहार में)—भगवान्

महावीर के परम भक्त श्रावक सेठ सुदर्शन का मुक्ति स्थान।

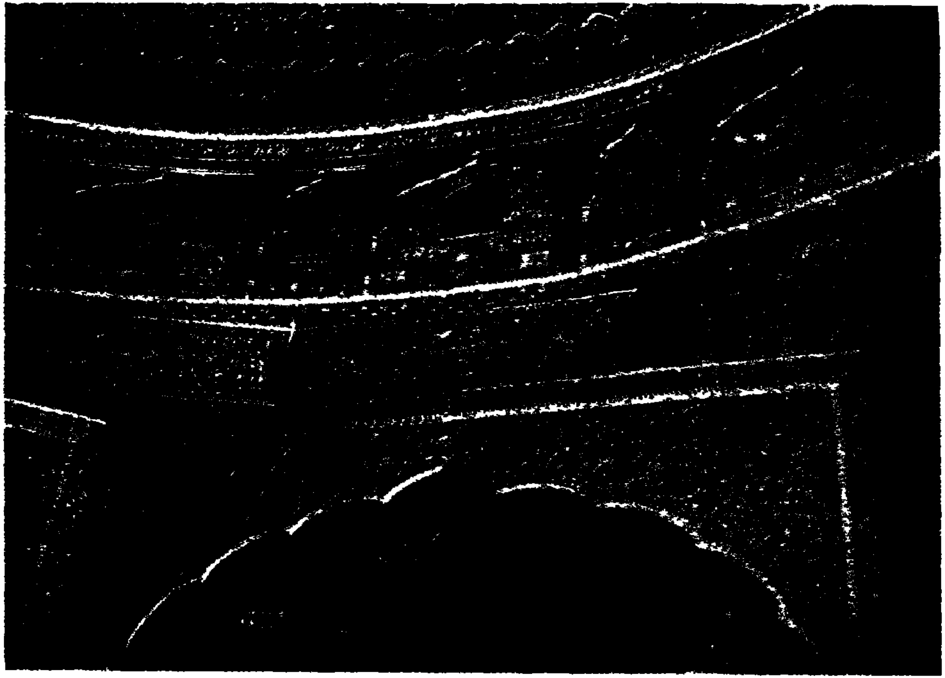
तक्षशिला—(पेशावर के निकट पाकिस्तान में)—भ० ऋषभदेव के परम तपस्वी पुत्र बाहुबलि से सम्बद्ध है।

इनके अतिरिक्त उ०प्र० के झाँसी जिले में देवगढ़, बानपुर, चाँदपुर, सिरौन आदि कई प्राचीन कलाकेन्द्र हैं। मध्य प्रदेश में ग्वालियर, मन्दिरों का नगर सोनागिर, मुक्तागिरि, अजयगढ़, खजुराहो, द्रोणगिर, नैनागिर, कुण्डलपुर, बीनाजी, थूबौनजी, अहार, मदनपुर, पपौरा, चन्देरी, पचराई, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ आदि; राजस्थान में श्रीमहावीर जी, चाँदखेड़ी, राणकपुर, मक्सीपार्श्वनाथ, बिनौलियापार्श्वनाथ, ऋषभदेव (केशरिया जी) अचलगढ़, आबू पर्वत का संसार प्रसिद्ध दैलवाड़ा मन्दिर समूह आदि; गुजरात में मन्दिरों का अद्वितीय नगर शत्रुञ्जय-पालीताना, तारंगा, पावागढ़ आदि, महाराष्ट्र प्रदेश में माँगीतुंगी, गजपन्था, कुन्थलगिरि, एलोरा एवं बादामी के गुहामन्दिर; उड़ीसा में उदयगिरि, खण्डगिरि की गुफायें; आन्ध्र प्रदेश में धाराशिव के गुहामन्दिर, रामगिरि आदि; मैसूर राज्य (कर्णाटक प्रदेश) में श्रवणबेलगोला, कारकल एवं वेणूर की जगत्प्रसिद्ध विशालकाय बाहुबलि गोम्मटेश

मूर्तियाँ, जैनबिद्री, मूडबिद्री, हुम्मच पद्मावती, वरांग, बेलूर, हेलखेड आदि अनेक पवित्र कलाकेन्द्र तथा तामिलनाडू में जिनकाँची, सित्तनवासूल की गुफायें आदि।

इस प्रकार भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक राज्य में अनेक दर्शनीय जैन तीर्थस्थान एवं कलाकेन्द्र हैं जो जैनों के धर्मोत्साह एवं कलाप्रेम के द्योतक हैं।

●



जयपुर की एक मंदिर की कारीगरी का चित्र

पर्व-त्यौहार

जैन पर्व-त्यौहारों की यह विशेषता है कि वे आमोद-प्रमोद, मनोरंजन आदि के साधन न होकर व्रत-उपवास आदि तप-संयम द्वारा आत्मसाधन के अवसर होते हैं। भक्तिपरक पूजा-पाठ, अनुष्ठानादि, कभी-कभी रथोत्सव आदि भी इन अवसरों पर किये जाते हैं। यों तो वर्ष का स्यात् कोई सप्ताह ऐसा नहीं है जिनमें कोई-न-कोई जैन पर्व न पड़ता हो, किन्तु विशेष महत्वपूर्ण पर्व निम्नलिखित हैं—

वीरशासन जयन्ति—श्रावण कृष्ण १—इस दिन अंतिम तीर्थंकर भ० महावीर का प्रथम उपदेश (ईसापूर्व ५५७ में) बिहार प्रान्तस्थ राजगिर के विपुलाचल पर्वत पर हुआ था। संयोग से अनादि जैन कालगणना में वर्ष का प्रारंभ भी इसी दिन से होता है और युगपरिवर्तन भी इसी दिन से होते हैं।

पार्श्वनिर्वाण—श्रावण शुक्ल ७—तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का बिहार प्रान्तस्थ सम्मेदशिखर से निर्वाण हुआ था।

रक्षाबंधन—श्रावण शुक्ल १५—धर्म एवं धर्मायतनों की रक्षा का प्रतीक।

सोलहकारण—भाद्रपद कृ० १ से १६ दिन पर्यन्त-तीर्थंकरपद प्राप्ति की कारण सोलह भावनाओं का आराधन।

पर्युषण—भाद्रपद कृ० १२ से भाद्रशुक्ल ४ पर्यन्त।

सम्वत्सरी—भाद्रपद शुक्ल ५।

भाद्रपदीय दशलाक्षणपर्व—भाद्रपद शु० ५ से १४ पर्यन्त।

क्षमावणी—अश्विन कृष्ण १–समस्त प्राणियों के साथ क्षमाभाव के आदान-प्रदान का पर्व।

महावीर निर्वाणोत्सव दीपावलि—कार्तिक कृ० १५।

ज्ञानपंचमी—कार्तिक शु० ५।

कार्तिकी अष्टान्हिका–कार्तिक शु० ८ से १५ पर्यन्त।

ऋषभ निर्वाण—माघ कृष्ण १४।

फाल्गुन अष्टान्हिका–फाल्गुन शु० ८ से १५ पर्यन्त।

ऋषभ जयन्ति—चैत्र कृष्ण ९।

महावीर जयन्ति—चैत्र शुक्ल १३।

अक्षय तृतीया—वैशाख शु० ३।

महावीर केवलज्ञानकल्याणक—वैशाख शुक्ल १०।

श्रुतपंचमी—ज्येष्ठ शु० ५।

आषाढ़ी अष्टान्हिका–आषाढ़ शुक्ल ८ से १५ पर्यन्त।

गुरुपूर्णिमा—आषाढ़ शु० १५।

जैनत्व के सामान्य चिन्ह

जैनधर्म का गृहस्थ अनुयायी जैन या जैनी कहलाता है, उसे श्रावक (सरावगी) या उपासक भी कहते हैं। एक जैन की सामान्य पहचान और मोटे-मोटे चिह्न निम्न हैं—

१. वह ऋषभादि महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों या जिनदेवों, अन्य सामान्य अर्हंत केवलियों और मोक्ष-प्राप्त सिद्ध भगवानों को अपना उपास्य इष्टदेव मानता है। उन्हीं की गुणानुराग रूप भक्ति, स्तवन, बन्दन, पूजा, उपासना करता है।

२. वह तीर्थंकरों के अनुयायी निर्ग्रन्थ तपस्वी साधु-साध्वियों को अपना धर्मगुरु मानता है और उनकी भक्ति, सेवा, परिचर्या करता है।

३. तीर्थंकरों के उपदेश या जिनवाणी जिन शास्त्रों में निबद्ध हैं उन्हें वह अपने धर्मशास्त्र मानता है और उनका सविनय श्रवण, स्वाध्याय, पठन-पाठन करता है। धर्मसाधन के मार्ग में विशेषतया और लौकिक जीवन व्यापार में सामान्यतया उन्हीं धर्मशास्त्रों से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

४. सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी जिनदेवों द्वारा संसार के समस्त प्राणियों के हित सुख के लिए उपदेशित तथा

सर्वस्वत्यागी निष्परिग्रही तपोधन साधु-साध्वियों द्वारा आचरित अहिंसा एवं संयम प्रधान आत्मधर्म में उसकी आस्था होती है ।

५. अर्हंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु नामक पंच-परमेष्ठी के नमस्काररूप पंचनमस्कार मंत्र जैनों का महा-मंत्र है, जिसका प्रत्येक जैन स्मरण एवं जप करता करता है । उसके लिए अर्हंत, सिद्ध, साधु एवं केवलीप्रणीत धर्म ही लोक में मंगलरूप एवं सर्वोत्तम पदार्थ हैं और इन्हीं चारों की शरण प्राप्त करने की वह भावना करता है ।

६. समस्त सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोग को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मानकर स्वीकार करता है तथा सदैव पापक्रियाओं से बचने और पुण्यकर्मों को करने का प्रयत्न करता है । क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों का शमन, इन्द्रियदमन, व्रत, उपवास द्वारा शरीर एवं मन का साधन, दया उदारता-दानशीलता-परोपकार द्वारा लोकसेवा, सबके साथ मैत्री एवं बन्धुत्व द्वारा सह-अस्तित्व, और सहिष्णुता द्वारा समन्वय स्थापन में प्रयत्नशील रहता है । वह धर्म-धर्म-काम का निर्विरोध एवं सन्तुलित साधन करने का प्रयास करता है । एक जैनी सर्वत्र सुख-शान्ति का इच्छुक होता है—वह शांति-प्रिय होता है ।

७. वह सर्वप्रकार के मांस, मछली, अंडे आदि सामिष आहार का सर्वथा त्यागी होता है और पूर्णतया शाकाहारी (दुग्ध-शाकाहारी) होता है। सर्वप्रकार के मद्य (शराब) तथा अन्य मादक द्रव्यों का त्यागी होता है और मधुमक्खियों को मारकर, उनके छत्तों को तोड़-कर-निचोड़कर निकाले हुए मधु (शहद) का भी त्यागी होता है। अन्य अनेक तामसिक एवं अभक्ष्य पदार्थों का भी सेवन नहीं करता।

८. वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह नामक पाँच पापों का स्थूल रूप से त्यागी होता है। परस्त्री (या पर-पुरुष) सेवन, वेश्यासेवन, जुआ (द्यूत), शिकार आदि कुव्यसनों का भी त्यागी होता है।

९. एक जैनी रात्रि के समय भोजन नहीं करता, सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लेता है तथा छना हुआ शुद्ध जल पीता है।

१०. अपने दैनिक प्रयोग में वह प्राणिहिंसा से प्राप्त वस्तुओं का भरसक उपयोग नहीं करता।

११. पारस्परिक अभिवादन में वह जुहारू, जयजिनेन्द्र, जयजिनेश, जयवीर आदि शब्दों का प्रयोग करता है।

जिनेन्द्र महावीर के कतिपय उपदेश

धर्म वस्तु का स्वभाव है—आत्मा का, मनुष्य का अपना निजी शुद्ध स्वभाव ही उसका धर्म है।

धर्म प्राणियों को संसार के दु:खों में छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराता है। इस लोक में अभ्युदय और पर-लोक में परम कल्याण की सिद्धि धर्म से ही संभव है।

धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल है और वह अहिंसा, संयम एवं तपस्या है। जिस व्यक्ति का मन सदा धर्ममय रहता है, स्वर्गों के देवता भी उसे नमस्कार करते हैं।

जीव मात्र के साथ संयमपूर्वक व्यवहार करना तथा परस्पर व्यवहार में समभाव रखना ही तेजोमय कुशल अहिंसा है। वह समस्त सुखों को देने वाली है।

जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा स्वयं करता है अथवा दूसरों से करवाता है या हिंसा करने वालों का समर्थन अनुमोदन करता है, वह संसार में स्वयं अपने लिये वैर बढ़ाता है।

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ध्रुव, निश्चय एवं शाश्वत धर्म है।

जो व्यक्ति पीठ पीछे किसी की निन्दा नहीं करता किसी के भी सामने कलह बढ़ाने वाली बातें नहीं करता,

दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले या भय उत्पन्न करने वाले शब्द भी नही बोलता, वही पूज्य है।

जो व्यक्ति अपना हित चाहता है उसे चाहिये कि पाप को बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ नामक दोषों को सदा के लिए त्याग कर दे।

क्रोध प्रीति का नाश कर देता है, मान विनय को समाप्त कर देता है, माया मैत्री को नष्ट कर देती है, और लोभ समस्त सद्गुणों का विनाश कर देता है।

शान्ति से क्रोध का शमन करो, विनम्रता से अभिमान को जीतो, सारल्य (निश्छलता) से माया का उच्छेद करो और सन्तोष से लोभ पर विजय प्राप्त करो।

अपने अन्तः (मन) से युद्ध करो, बाहरी शत्रुओं से क्या युद्ध करना ? आत्मीक शत्रुओं से युद्ध करना ही दुर्लभ है। जिसने स्वयं को जीत लिया, उसने सबको जीत लिया।

जीवन असंस्कृत है—एक बार टूट जाने के पश्चात् फिर नहीं जुड़ता। अतएव एक क्षण भी व्यर्थ न खोओ, उठो जागो, क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करो।

प्राणघातक शत्रु भी हमारा उतना अपकार नहीं करता जितना कि दुराचरण में लगी हुई हमारी

अपनी आत्मा। दयाहीन दुराचारी व्यक्ति का अपने दुष्कर्मों पर प्रारंभ में ध्यान नहीं जाता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में जाने लगता है तो अपने दुराचरणों को याद करके पछताता है।

जब तक बुढ़ापा दुःख देने के लिए नहीं आ घेरता, शरीर में जब तक रोगादि व्याधियाँ घर नहीं करतीं, जब तक इन्द्रियों की शक्ति हीन नहीं होती, तब तक ही समय है कि धर्म का आचरण कर लें।

कोई भी किसी को धनादिक कुछ भी नहीं देता, जीव का कोई भी उपकार-अपकार नहीं करता, उसके स्वयं के किये हुए शुभ-अशुभ कर्म ही व्यक्ति का उपकार-अपकार करते हैं।

अपने सुख और दुःख का कर्ता-अकर्ता आत्मा स्वयं है। वह ही स्वयं अपना मित्र है और स्वयं अपना शत्रु है। वह स्वयं ही अपनी शुभ और अशुभ दशाओं का निर्णायक एवं नियामक है।

जो व्यक्ति संसार के समस्त छोटे-बड़े प्राणियों को अपनी आत्मा के समान ही देखता, जानता और समझता है वही इस अपार अखिल विश्व के स्वरूप को समझता है। वही व्यक्ति पूज्य एवं वंदनीय है जो समस्त प्राणियों को आत्मवत समझता है, सबके प्रति समभाव रखता है।

अपने स्वयं के कर्मों-कार्यों, प्रवृत्तियों से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है। जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य और न शूद्र।

सभी प्राणी सुख की खोज में अपने से बाहर भटकते रहते हैं। सच्चा सुख तो अपने अन्तः में—स्वयं अपनी चेतना की गहराइयों में खोजना चाहिये।

जहाँ मोह नहीं वहाँ दुख नहीं, जहाँ तृष्णा नहीं वहाँ मोह नहीं, जहाँ लोभ नहीं वहाँ तृष्णा नहीं, और जो अकिंचन है उसके लोभ नही रहता।

सबके प्रति क्षमाभाव रक्खो, सबके साथ मैत्री रक्खो, किसी के भी साथ वैर न रक्खो, किसी के भी दुख की इच्छा न करो, सभी प्राणी सुखी रहें, सदा यही भावना करो।

अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग श्रेय की दिशा में करो। प्रत्येक बुराई को अच्छाई में बदल डालो।

कष्ट न हो औरों को, इस प्रकार जियो। जीवन-रस सबको बाँटो और स्वयं भी पियो।

सुख का मूल धर्म का है, धर्म का मूल दया है, और दया का मूल विवेक है। अतएव विवेक से उठो, विवेक से बैठो, विवेक से चलो, विवेक से सोओ और

जागो, विवेकपूर्वक भोग-उपभोग करो, विवेकपूर्वक विचार करो—सभी कार्य विवेक और यत्नाचारपूर्वक करो।

धर्माचरण द्वारा ही व्यक्ति पूज्य होता है, विश्वसनीय होता है, सबका प्रिय होता है, यशस्वी होता है, सुखी होता है और उसका चित्त समस्त उद्विग्नताओं से रहित हो जाता है।

यतो धर्मस्ततो जयः।

●

समीक्षकों की दृष्टि में

मेरा सुनिश्चित विश्वास है कि जैनधर्म एक मौलिक दर्शन है, अन्य समस्त धर्मों एवं दर्शनों से वह स्पष्टतया पृथक् एवं सर्वथा स्वतंत्र है और इसी कारण प्राचीन भारत के दार्शनिक विचारों एवं धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

—डा० हर्मन जेकोबी
(जे० ए० X, 1 पृ०–४०)

हम विश्वास के साथ कह सकते है कि अहिंसा प्रधान जैनधर्म संभवतया उतना ही अधिक प्राचीन तो है ही जितना कि वैदिक धर्म, यदि और अधिक भी नही ....इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अहिंसा धर्म वेदो जितना प्राचीन अवश्य है।

—कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया
(भा० १, पृ० १८५)

मोहनजोदड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनधर्म का विशेष योग रहा है।

—वाचस्पति गैरोला
(भारतीय दर्शन, पृ० ९३)

जैनों और उनके धार्मिक साहित्य का जो वर्तमान में उपलब्ध ज्ञान है, उसके बल पर यह सिद्ध करना कठिन नही है कि बौद्ध-धर्म या ब्राह्मण-धर्म की शाखा होने की बात तो बहुत दूर रही, जैनधर्म भारतवर्ष का सर्वप्राचीन स्वदेशीय धर्म है।

—प्रो० एम०एस०रामास्वामी आयंगर
(जैं० ग०, भा० १६, पृ० २१२

जो धर्म अधिक सरल हो उसे ही अपेक्षाकृत अधिक जटिल मत का पूर्वज मानना ही चाहिये····और जैनधर्म से अधिक सरल धर्म कौन हो सकता है, चाहे पूजा-पद्धति, क्रियाकांड अथवा नैतिक आचार, किसी भी दृष्टि से देखें।

—डा० ई०डब्ल्यु०टामस—व मेजर जनरल फर्लांग

(जैनिज्म दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन पृ० ३६ पर उद्धृत)

भारत के महान सन्तों जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज इन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है, क्योंकि जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष्य पद्धति) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है, क्योंकि जैनधर्म का भौतिक विज्ञान और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है—जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है, जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणीशास्त्र, मनोविज्ञान और काल, गति स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवतीसूत्र के वनस्पतिकायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।

—अनन्तशयनम् आयंगर

(भू०पू० अध्यक्ष, लोकसभा)

साफ प्रगट है कि भारतवर्ष का अधःपतन जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त के कारण नहीं हुआ था, बल्कि जब तक भारतवर्ष में

जैनधर्म की प्रधानता रही थी, तब तक उसका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है, और भारतवर्ष के मुख्य ह्रास का कारण आपसी प्रतिस्पर्धामय अनैक्यता है, जिसकी नींव शंकराचार्य के समय में रक्खी गई थी।

—रेव०जे०स्टीवेन्सन

(जैनमित्र, व २४ अक ४०)

जैनधर्म का मूल मंत्र अहिंसा है, और अहिंसावाद एक ऐसा दर्शन है जो आर्यों के उदय के पूर्व से चला आ रहा है।

—एस०एन०गोखले

(इण्डियन थियोसोफिस्ट)

सब जीवों के साथ सहानुभूति तथा दया रखना जैनधर्म का प्रधान सिद्धान्त है। 'अहिंसा परमोधर्म:' ही जैन दर्शन का मूल मंत्र है। जैन दर्शन सब मतों के लिये आदर दिखलाता है ? जैनधर्म में अन्य धर्मों अथवा मतों के लिये सहिष्णुता पाई जाती है। जैन दार्शनिकों का यह मत है कि प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से देखने से अनन्त रूप हो सकता है। अतएव हमें अपने ज्ञान तथा विचार की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए किसी खास मत को हो बिलकुल सच्चा या झूठा नहीं मान लेना चाहिये। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार सब धर्म किसी अंश में सत्य है।

—साँवलिया बिहारी लाल वर्मा

(विश्व धर्म-दर्शन, पटना, पृ० १५७)

हिन्दू धर्म पर इस धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जैनो के चौबीस तीर्थंकरों की भाँति विष्णु के चौबीस अवतार निश्चित कर मूर्तिपूजा प्रचलित करनी पड़ी। जैनों के सात तीर्थों को भाँति हिन्दुओं ने भी सात पुरियों को महत्ता कायम की। जैनधर्म के

महावाक्य 'अहिंसा परमोधर्मः" को स्वीकार कर इसे वैष्णव धर्म का मूलमंत्र बनाया।

(वही–पृ० २३१)

जैनधर्म के ऋषभ देव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं। तीर्थंकरों का पुनर्जन्म नहीं होता, वे दैवी आभा हो जाते हैं। इस प्रकार महावीर जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे, किन्तु जैनधर्म के वर्तमान रूप के संस्थापक एवं प्रवर्तक थे।

(वही–पृ०–१३१)

इतिहास को जानने का दावा करने वालों में से अनेक ऐसे हैं जो यह नहीं जानते कि बुद्ध के जन्म से लाखों वर्ष पूर्व से एक या दो नहीं वरन अनेक तीर्थंकर अहिंसा धर्म का प्रचार करते चले आये थे। जैनधर्म एक अत्यन्त प्राचीन धर्म है और भारतीय संस्कृति को उसने बहुत कुछ दिया है।

जैनधर्म किसी जाति विशेष का धर्म नहीं है वरन् वह तो प्राणी मात्र का धर्म है, अन्तरराष्ट्रीय एवं विश्वधर्म है।

—डॉ० कालिदास नाग

जिनेन्द्र का धर्म सच्चा धर्म है, यह पृथ्वी पर मानव मात्र का धर्म है।

—रेव० जे० ए० डुबोय

आजकल यज्ञों में पशुहिंसा नहीं होती, ब्राह्मण और हिन्दूधर्म में मांसभक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, सो यह भी जैनधर्म का प्रताप है। जैनधर्म की छाप ब्राह्मणधर्म पर पड़ी है।

—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात में है कि उसमें अहिंसा तत्त्व की प्रधानता हो। अहिंसा तत्त्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है तो वह महावीर स्वामी थे।

पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं, आज मैं विरोधियों से प्यार करता हूँ, क्योंकि अब मैं अपने विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।

—राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी

सर्वोदय शब्द नया नहीं है, प्राचीन शब्द है, जैन शास्त्रों में आया है। जैनों की सबसे बड़ी देन है, मांसाहार त्याग। इस्लाम ने आक्रमण किया, किश्चियनों ने भी आक्रमण किया, परन्तु जैन-धर्म ने किसी पर आक्रमण नहीं किया।

—सर्वोदयी नेता संत विनोबा भावे

यह बात सुनिश्चित है कि जैनधर्म और बौद्धधर्म न हिन्दू ही थे और न वैदिक, तथापि वे भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुए और भारतीय जीवन, संस्कृति एवं दार्शनिक चिन्तन के अभिन्न अंग रहे हैं। वे शत-प्रतिशत भारतीय विचारधारा एवं सभ्यता की उपज हैं किन्तु वे हिन्दू नहीं हैं। अतएव भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहना भ्रामक है।

—जवाहर लाल नेहरू (डिस्कवरी आफ इण्डिया)

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भित्ति पर जो किले मानव समाज के बनाये हैं और बनाता जा रहा है उनकी सुरक्षा के लिए आध्यात्मिक तत्त्व का सहारा लेना आवश्यक है। भगवान महावीर के जीवनचरित्र और उनकी शिक्षाओं से हमें वे तत्त्व आसानी से मिल सकते हैं।

—राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

भगवान् महावीर के संदेश किसी खास कौम या फिरके के लिए नहीं हैं, बल्कि समस्त संसार के लिए हैं।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

जैनधर्म ने सिद्ध कर दिया है कि लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति अहिंसाव्रत से ही हो सकती है।

—डॉ० श्रीप्रकाशजी

जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (रेवेलेशन) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता जैसे उन दुर्गुणों को दूर कर दिया जिनके कारण मानव इतिहास भयङ्कर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ है।

—डा० एम० बी० नियोगी

यह सुविदित है कि जैनधर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उन्होंने श्रमण परम्परा को अपनी तपश्चर्या के द्वारा एक नयी शक्ति प्रदान की जिसको पूर्णतम परम्परा का सम्मान दिगम्बर परम्परा में पाया जाता है। भगवान महावीर से पूर्व २३ तीर्थङ्कर हो चुके थे—उन्हीं में भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर थे जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। ऋषभनाथ के चरित का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है। भागवत में ही इस बात का उल्लेख है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि यह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह हुए हैं। अन्तिम मनु नाभिराय थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव हुए, जिन्होंने अहिंसा और अनेकान्त आदि

का प्रवर्तन किया। भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।

—डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'

जैनधर्म के सारे संकेतों की कलना करते स्पष्ट मालूम देता है कि इस धर्म का प्रभाव बेबिलोन से लेकर यूरोप तक कम व्याप्त न था। ईसापूर्व ७ वीं सदी में (यूनानी) मनीषी पैथागोरस निकले। वह एक जैन साधक थे और जैन संन्यासी भी। इस तरह जैनधर्म संसार के सारे धर्म तथा मानविक आत्मविकास के मूल में है। कहा जा सकता है कि इसी के ऊपर मानव समाज के विकास की प्रतिष्ठा आधारित है।

—डा० नीलकंठ दास, भुवनेश्वर

जैनियों का निरीश्वरवाद इतना उदार तथा व्यापक है कि हमारे जैसे अजैनी और ईश्वरवादी के लिए वह ईश्वरवाद ही है। कई दृष्टियों से उससे ऊपर उठ जाता है। वेदान्द यदि एकवाद है तो जैनधर्म अनेकान्तवाद है।

—श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

जैनधर्म के महान सिद्धान्त, अहिंसा, धर्मनिरपेक्षता, अनेकान्तवाद आदि ही भारत की नीति के आधार हैं।

—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

यदि हम भगवान् महावीर के बताए हुए मार्ग पर चलें तो संसार की बहुत सारी मौजूदा समस्याएँ हल हो सकती हैं।

—डा० गोपालस्वरूप पाठक (उपराष्ट्रपति)

जैनी भावना

शिवमस्तु सर्वजगतः, परहित निरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ।।

सारे जगत का कल्याण हो। समस्त प्राणी एक दूसरे की भलाई में—हित सम्पादन में लगे रहें। दोष-बुराई कहीं नाम को भी न रहे। संसार के सारे प्राणी सुखी रहें !

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!